द्वितीय पाठ

स्वतंत्रता के संदेश

सन् 1931 और 1940 के बीच स्वतंत्रता का संघर्ष कई कदम आगे बढ़ा। दशक का प्रारंभ दूसरे सहयोग आंदोलन से हुआ और अंत दूसरे विश्वयुद्ध के प्रारंभ में और युद्ध में भारत को बिना उनकी अनुमति लिए घसीटे जाने के विरोध में प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के साथ। लेकिन इसके पहले कि हम इन वर्षों के दौर की राष्ट्रीय आंदोलन की दिशा की तलाश करें, हमारे लिए सन् 1920 और 1930 के बीच की क्रांतिकारियों की आंदोलनकारी गतिविधियों और सन् 1930—40 के शुरू के कुछ वर्षों में निरंतर घटित घटनाओं की ओर ध्यान देना जरूरी है। इसी दौर में मज़दूर आंदोलन भी सशक्त हुआ और देश के राजनैतिक चिंतन में समाजवादी और साम्यवादी विचारों ने जड़ें जमायीं। सन् 1930 और 1940 के बीच की इन स्त्रियों ने राजनैतिक विकास को प्रभावित किया।

सिर्फ सन् 1928 में एक वर्ष की अवधि में देश में 203 हड़तालें हुईं जिनमें 5 लाख, 5 हज़ार मज़दूरों ने हिस्सा लिया। बंबई और दक्षिण महाराष्ट्र की कपड़ा मिलों के क्रांतिकारी गिरनी कामगार संघों की सदस्यता में पर्याप्त वृद्धि हुई। दक्षिण भारतीय, मद्रास और दक्षिणी मराठा रेलवे के मज़दूरों ने क्रांति का आह्वान करने वाले मज़दूर संघों की स्थापना की। शहर में कीर्ति, मज़दूर, किसान, स्पार्क और क्रांति जैसे साज़्यवादी समाचार पत्रों का प्रसार हुआ। युवक समितियों की स्थापना हुई जो कांग्रेस के उच्च मध्यम वर्ग के स्वराजी नेताओं से कम सहानुभूति रखने वाले निम्न मध्यम वर्ग के क्षेत्रों में लोकप्रिय हुई। उन समितियों ने समाजवादी संघर्ष के लिए अपने को अनुशासित तरीके से संगठित नहीं किया। उन्होंने न तो ऐसे मजदूर दलों की स्थापना की जिनमें शहरी मज़दूर वर्ग की बड़ी संख्या में शामिल किया जाये और फिर उन्होंने समाजवादी विचारधारा के आधार पर बेहतर जीवन स्तर के लिये आंदोलन करने का प्रशिक्षण दिया जाए। न ही उन्होंने भारतीय मज़दूर को अंतर्राष्ट्रीय मज़दूरों के वर्ग आंदोलन से सम्बद्ध करने का कदम उठाया।

जिस समय कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन और सर्वदलीय सम्मेलन हुआ उसी समय कम्युनिस्टों ने किसान मज़दूर दलों के पहले अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में सर्वहारा वर्ग के संघर्ष बिना मुआवजा दिये सिद्धांत रूप में भूस्वामित्व की समाप्ति, अपेक्षाकृत छोटे कार्य दिवस और न्यूनतम मज़दूरी, भाषण, मज़दूर संघों के संगठन और समाचार पत्रों की स्वतंत्रता की आवश्यकता पर बल दिया। उसने इच्छित अंतरिम लक्ष्य के रूप में सन् 1928 में कांग्रेस द्वारा औपनिवेशिक राज की स्वीकृति की आलोचना की।

ब्रितानी शासक वर्ग ने महसूस किया कि साईमन विरोधी प्रदर्शन में जो स्वतः प्रेरित उत्साह देखा था, वह वामपंथी दिशा में बढ़ा रहा था। मज़दूर समस्या को लेकर ह्विट्ले आयोग के नाम से एक दूसरे शासकीय आयोग की नियुक्ति हुई। आयोग को भारत में आकर मालिक—मज़दूर रिश्तों में सुधार और मज़दूर कल्याण के कामों को बेहतर बनाने के उपायों का सुझाव देना था। वामपंथी आन्दोलन को शक्ति देने वाले (सरकार की दृष्टि में) ये ही मुख्य स्त्रोत थे और विचार था कि मज़दूर वर्ग को यह समझाकर गुमराह कर दिया जाए कि समाजवाद और क्रांति के बारे में अस्पष्ट ढंग से बोलने वाले नेताओं की तुलना में मज़दूरों के कल्याण की चिंता सरकार को अधिक है। लेकिन मज़दूर उनके धोखे में नहीं आये। सन् 1929 में सुधारवादी ह्विट्ले आयोग का भारत पहुंचने पर बहुत से मज़दूर संगठनों द्वारा बहिष्कार किया गया। उन्हें याद आया कि सन् 1928 में सरकार ने केन्द्रीय विधान परिषद् द्वारा मज़दूर विवाद विधेयक पारित करने और सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक में एक संशोधन कराने की कोशिश की थी। वे कदम ने केवल मज़दूरों के अहित में थे, वरन् उनके कारण सचमुच मज़दूरों की कारवाई करने की स्वतन्त्रता भी सीमित हो जाती थी। प्रस्ताविक कानूनी कदमों का उद्देश्य था कि यदि कार्यपालिका समझती है कि प्रांतों में विधान और व्यवस्था खत्म हो जाने वाली है, तो उसे विधायिका के नियंत्रण से मुक्त करके हड़तालों को खत्म करने और आपात्कालीन कारवाई करने के अधिकार प्राप्त हो पायें। वे कदम भारत के राजनैतिक दलों का उन विश्व संगठनों से कोष और सहायता के लिए संपर्क कर पाना अधिक कठिन बना देंगे जो भारत में वामपंथी विचारधारा का सर्मथन करते हैं। केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्यों ने मोती लाल नेहरू के नेतृत्व में उन विधेयकों को अस्वीकृत कर दिया।

मार्च 1929 में बंबई में गिरनी कामगार संघ और रेल मज़दूरों के संयुक्त आह्वान पर एक आम हड़ताल हुई। यह हड़ताल सन् 1928 की हड़तालों में भाग लेने वाले मज़दूरों की बर्खास्तगी और उनकी जगहों पर पठान मज़दूरों की भर्ती के विरोध में हुई थी। हड़ताली मज़दूरों का तर्क था कि इन कारवाईयों का उद्देश्य मज़दूर संगठनों की एकता को कमज़ोर बनाना था और उन्हीं के परिणामस्वरूप मिलों में हिन्दू—मुस्लिम दंगे हुए। हड़ताल कानपुर और कलकत्ता में फैली। इसके तत्काल बाद 20 मार्च, 1929 को देश के विभिन्न भागों से मज़दूर आंदोलन के 33 प्रमुख नेताओं को ब्रितानी राज के खिलाफ क्रांति करने के षड्यंत्र के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया। इन नेताओं में बाद के वर्षों के मशहूर कम्युनिस्टों मुजफ्फर अहमद, डांगे, मीरजाफर और पी. सी. जोशी के अलावा बंबई के कम्युनिस्टों की सहायता के लिये भेजे गये दो अंग्रेज कम्युनिस्ट बेन ब्रैडले और फिलिप स्प्रैट तथा कुछ गैर—कम्युनिस्ट क्रांतिकारी भी थे। वायसराय ने एक विशेष अध्यादेश जारी किया जिसके अनुसार विधान परिषद में अस्वीकृत दोनों विधेयकों को लागू करने के अधिकार मिल गये। षड्यंत्रकारियों को मज़दूर वर्ग की एकता के बड़े औद्योगिक केन्द्रों से दूर हटकर मेरठ लाया गया। यहां पर कई साल तक, वास्तव में सन् 1933 तक, मेरठ षड्यंत्र केस के नाम पर उन पर मुकद्दमा

चलता रहा। अंततः अधिसंख्य बंदियों को दोषी घोषित करके उन्हें विभिन्न अवधि की जेल की सजा दी गयी। उनमें से कम्युनिस्टों ने अपने साम्राज्यविरोधी दृष्टिकोण और आदर्शों के औचित्य में अदालत में विस्तृत तर्क दिये लेकिन उसे दबा दिया गया।

नयीं जानकारियों से पता चलता है कि सरकार ने जवाहर लाल नेहरू को भी एक षड्यंत्रकारी के रूप में गिरफ्तार करने का इरादा किया था। लेकिन यह सोचकर कि उसके बाद आंदोलन भयंकर हो सकता है, इरादा बदल दिया। नेहरू ने मेरठ के नजरबंदों की कानूनी सहायता जरूर करनी चाही लेकिन सन् 1929—31 की घटनाओं के कारण कम्युनिस्टों के मुकद्दमे की सुनवाई के समाचार महत्वपूर्ण नहीं रह सके और उनकी ओर जनता का ध्यान नहीं गया।

बहरहाल, सन् 1929 में पूरे वर्ष भर हड़तालें चलती रहीं। अखिल भारतीय मज़दूर संघ कांग्रेस (ए. आई. टी. यू. सी.) के नागपुर सम्मेलन में कांग्रेस नेताओं ने वामपंथी मज़दूर संघों की ह्विट्ले आयोग के पूर्ण बहिष्कार और साम्राज्यवाद के विरुद्ध मज़दूर संघ कांग्रेस की लीग से संबद्ध करने की मांग के प्रश्न पर सर्मथन दिया था। एन. एम. जोशी गुट, जो इन मांगों के पक्ष में था, पराजित हुआ। उसने मज़दूर संघ कांग्रेस को छोड़ कर अखिल भारतीय मजदूर महासंघ (ए. आई. टी. यू. सी.) की स्थापना की। इस संघ ने क्रांतिकारी उद्देश्य का यहां तक कि राजनैतिक मांगों तक का, परित्याग कर दिया। यह केवल मज़दूरी की हालत को ठीक करने के उद्देश्य से चिपका रहा। लेकिन एक असलियत यह है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा संगठित राष्ट्रीय आंदोलन में मजदूर वर्ग के अपेक्षाकृत अधिक क्रांतिप्रिय गुट तक ने हिस्सा नहीं लिया जैसा कि जवाहर लाल नेहरू ने अपने जीवनचरित में लिखा:

> *मज़दूरों के उन्नत वर्ग में राष्ट्रीय कांग्रेस को लेकर झिझक थी। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं पर विश्वास नहीं किया। उसकी विचारधारा को बुर्जुआ और प्रतिक्रियावादी माना। मज़दूर दृष्टिकोण से ऐसा मानना सही था।*

इस प्रकार असहमति की अंतविरोधी प्रवृत्तियों (जिसमें एक रूढ़िवादी थी और दूसरी परिवर्तनवादी) और सरकारी दमन ने सन् 1930—40 के बीच के राष्ट्र आंदोलन में मज़दूरों की हिस्सेदारी को दुर्बल बनाया।

पंजाब, उत्तर प्रदेश और बंगाल में कांग्रेस में नरमपंथी अहिंसावादी नीतियों से निराश निम्न मध्यम वर्ग के युवकों ने क्रांतिकारी कार्रवाइयों को पुनः जीवित किया। सन् 1925 में उत्तर प्रदेश में मशहूर काकोरी षड्यंत्र केस हुआ जिसके अभियुक्तों में से रामप्रसाद बिस्मिल, रोशन लाल और अशफाकाउल्लाह को फांसी की सजा दी गई। इस केस में बंगाली भी शामिल थे। शेष संदिग्ध व्यक्तियों में से कुछ गिरफ्तारी से बचकर गायब हो गए। सन् 1928 तक पुलिस तक की गिरफ्त में न आ सकने वालों में से सिर्फ चंद्रशेखर आज़ाद बचे थे। उन्होंने 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सेना' का

गठन करने में आगे बढ़ कर हिस्सा लिया। इसका नाम बदल कर 'हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ' रखा गया। लक्ष्य हुआ हिन्दुस्तानी समाजवादी रिपब्लिक की स्थापना।

30 अक्तूबर, 1928 की साइमन आयोग अपनी जांच के लिए जब लाहौर पहुंचा तो पंजाब के कुशल नेता लाजपतराय के नेतृत्व में, विरोध में 'साइमन लौट जाओ' के परिचित नारों के साथ प्रदर्शन हुआ। पुलिस ने अहिंसक भीड़ को पीछे धकेल देने के लिये लाठियां चलाई। लाजपतराय जख्मी हो गये और उनका देहावसान हो गया। जनमत ने लाठीचालन के जिम्मेदार पुलिस अधीक्षक सांडर्स को हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ के सदस्य और पंजाब भारत सभा के भगत सिंह ने गोली मार दी। वे अपने साथियों समेत पुलिस से बच निकलने में सफल रहे। सन्, 1907 में जन्में भगत सिंह प्रसिद्ध सरदार अजीत सिंह के भतीजे थे। सन् 1928 में नवजवान भारत सभा ने पंजाब की कीर्ति किसान पार्टी से भी संपर्क किया था और अक्तूबर में भगत सिंह और उनके साथियों ने हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ (एच. एस. आर. ए.) की स्थापना के लिए दिल्ली में फिरोजशाह कोटला के नजदीक आयोजित बैठक में भाग लिया था। सभा को यकीन था कि एक जनसम्मत व्यापक क्रांतिकारी कारवाई देश को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कर सकती थी। उसने नारा दिया: जनता द्वारा जनता के लिए क्रांति। वह यह भी मानती थी कि गांवों में ऐसे राजनैतिक काम करने की जरुरत है। जिससे लोग उद्देश्य को समझ सकें। उसने बल देकर कहा कि विद्रोही क्रांतिकारी ही क्रांतिकारी संघर्ष का पहला और अनिवार्य चरण है, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत बहादुरी और बलिदान की क्रांतिकारी कारवाईयों के जरिये जनता को जागरूक बनाना है।

इन विश्वासों पर अमल करते हुए रिपब्लिक संघ ने गुप्त अड्डो से निकल भारतीय जनता के सामने आने और अपनी कारवाईयों को पूरी जिम्मेदार स्वीकार करने का फैसला किया। 8 अप्रैल, 1929 को केन्द्रीय विधान परिषद में वित्त सदस्य ने मज़दूर विवाद और जनसुरक्षा विधेयकों को एक विशेष अध्यादेश के जरिये लागू करने की घोषणा की थी। इस निरंकुश दमन के विरोध के प्रतीक रूप में भगत सिंह और बटुकेशवर दत्त ने दर्शकदीर्घ से सरकारी कुर्सियों की ओर एक बम फैंका। उन्होंने सदन में रेड पेंफलेट नाम से प्रकाशित पुस्तिकाओं की प्रतियां भी फैंकी, कोई घायल नहीं हुआ क्योंकि फटने वाला बम मारक नहीं था। क्रांतिकारी ने किसी को मारना या घायल करना नहीं चाहा था। लेकिन जैसा कि पुस्तकों में बताया गया था उनकी कोशिश थी कि बहरे सुनें। उसके बाद उन्होंने अपने को यह सोचकर गिरफ्तार करा लिया ताकि वे एक मंच के रूप में इस्तेमाल करके जनता पर अपनी विचारधारा स्पष्ट कर सकें। कम्युनिस्टों ने भी मेरठ में यही करने की कोशिश की थी।

कम्युनिस्ट मज़दूर संगठनक र्ताओं और हिन्दुस्तान रिपब्लिकन संघ की विचारधारा में कुछ मूलभूत पहलुओं को लेकर भिन्नता थी। लेकिन उनके तरीके और सिद्धातों में बहुत सी समानताएँ स्पष्ट हैं। आमतौर पर दोनों ही गुटों ने जनता के सामने ब्रितानी साम्राज्यवाद की विभाजक चालों

और उसके बर्बर दमन के विरुद्ध खुली चुनौती रखी क्योंकि जनता साम्यवाद के लिए तैयार नहीं थी। सुविधाहीन निम्न मध्यम वर्ग में सन् 1905 के आंदोलन के दिनों मे ही क्रांतिकारी वीरों की पूजा करने की परंपरा चल पड़ी थी। अत: भगत सिंह और रिपब्लिकन संघ ने जनता का ध्यान अपनी ओर सबसे अधिक आकर्षित किया। उन्होंने लाहौर कांग्रेस के बाद शुरू किए नये नागरिक अवज्ञा आंदोलन में जनता को शामिल होने में मदद की। लेकिन वास्तव में खुद कांग्रेस में ही एकता नहीं थी। गांधी जी और उनके कुछ सहयोगियों के लिए अहिंसा एक जीवन दर्शन थी वे किसी भी परिस्थिति में हिंसा या हिंसक विद्रोह का मुकाबला नहीं कर सकते थे। वे क्रांतिकारी कारवाईयों के पूर्णतया विरुद्ध थे। कुछ दूसरे लोग थे, जिन्होंने गांधी जी और उनके नेतृत्व और कार्यक्रम को यह मान कर स्वीकार कर लिया था कि उस वक्त की परिस्थितियों में वही उत्तम था और संभवतया उसी से सफलता मिल सकती थी। उन्होंने हिंसा का परित्याग यह महसूस करने के बाद किया कि सरकार के विरुद्ध लड़ाई बराबर की नहीं होगी। इन लोगों ने ऐसा महसूस किया कि यदि क्रांतिकारियों ने अपने ढंग से ब्रितानी शासन को कमज़ोर किया या स्वतंत्रता के संघर्ष में जनता का समर्थन प्राप्त किया तो वे क्रांतिकारी कार्रवाईयों से ब्रितानी साम्राज्यवाद पर एक और प्रहार समझें। ऐसे भी कुछ लोग थे जिन्होंने महसूस किया कि दोनों तरह के आंदोलन आवश्यक हैं। इसी को लेकर कांग्रेस के भीतर मतभेद थे। कुछ लोग अपने विचारों में निष्ठा और ईमानदारी के साथ वामपंथी थे, कुछ ऐसे थे जिन्होंने स्पष्टतया इसका विरोध किया था। गांधी जी और उनके अनुयायियों ने एक ऐसे राजनैतिक और आर्थिक कार्यक्रम में विश्वास किया जिसका दावा था कि उसमें समाजवाद के यहां तक कि साम्यवाद के समतावादी समाज और धन संचय विरोधी सिद्धांत शामिल है। लेकिन इसमें साम्यवाद की स्वामित्व और व्यक्ति की तुलना में समुदाय को अधिक महज्त्वपूर्ण मानने के आरज़्भिक उसूलों को निकाल दिया गया था। वास्तव में गांधी जी ने ऐसे अत्यंत नैतिक व्यक्तियों के विकास का विश्वास किया था ताकि अनुकरणीय नागरिकों द्वारा जो आदर्श समाज निर्मित होगा। उसमें सरकार को शासन करने की बहुत थोड़ी आवश्यकता होगी।

इन्हीं कारणों से क्रांतिकारीयों और कांग्रेसी नेताओं के बीच कोई वास्तविक संबंध सूत्र नहीं थे। यद्यपि दोनों के लक्ष्य एक ही थे। इसी वजह से नेतृत्व के निर्देशन और देखरेख के अभाव में जनता के मन में संघर्ष को लेकर पैदा हुए भाव कुछ खंडित और दुर्बल हो गये।

इसी तरह क्रांतिकारियों को जम कर लड़ने के जो अवसर मिले। उनका पूरा लाभ उन्होंने स्वयं नहीं उठाया। उनका बलिदान और अपने को उत्सर्ग करने का आदर्श तथा संगठन का भावना की कमी ने सारे प्रभाव को कमज़ोर बना दिया। लगा कि इस सब को संचालित करने वाली एक गतिशील केन्द्रीय शक्ति गायब थी।

सरकार ने भगत सिंह और उनके साथियों के खिलाफ मुकद्दमा चलाया, जिसे लाहौर षड्यंत्र केस कहा गया। कुछ अभियोगियों ने, जिन्होंने राज के खिलाफ खुले युद्ध की घोषणा की थी। अपने

साथ राजनैतिक बंदियों की जगह पर आम अपराधियों जैसा व्यवहार किये जाने का विरोध किया। अपने विरोध की ओर जनता का ध्यान करने के लिए उन्होंने भूख हड़ताल की। अंतः जेल अधिकारी उन्हें जबरदस्ती खिलाने के लिए इस वजह से विवश हो गए कि कहीं वे शहीदों की तरह मर न जायें। लेकिन जतीनदास ने कहा, "मैं अंत तक डटा रहूँगा।" उन्होंने भोजन और दवा लेने से इंकार कर दिया। 13 सितंबर, 1929 को उसका स्वर्गवास हो गया। उनका शव रेलगाड़ी से कलकत्ता ले जाया गया। सारे रास्ते में शोकाकुल भीड़ मिली जो उनके अंतिम दर्शन करने आयी थी।

भगत सिंह और दूसरे बहुत से क्रांतिकारियों ने सन् 1925 के बाद अपने विश्वासों को मार्क्सवाद की मूलभूत विचारधारा से जोड़ लिया था। अब उनमें से बहुतों ने (चाहे वे जेल में थे या जेल के बाहर) व्यक्तिगत विद्रोह और बहादुरी के काम पर नये सिरे से सोचा और अंततः जनता द्वारा समाजवादी क्रांति के पक्ष में उन्हें तिलाजंलि दे दी। इसके परिणामस्वरूप उत्तर भारत में हिंसा निरतंर घट गई।

लाहौर कांग्रेस के पूर्ण स्वराज के प्रस्ताव के पहले कुछ दूसरी घटनाएँ भी विकसित हुई थीं। सन् 1931—40 के बीच के स्वतंत्रता के संघर्ष को उसके सही परिपक्ष्य में समझने के लिए उन घटनाओं पर सावधानीपूर्वक ध्यान देना आवश्यक है। ब्रिटेन में आम चुनाव हुए थे और लेबर दल ने सत्ता संभाल ली थी। भारतीय राष्ट्रवादिता के तब तक के मित्र और समाजवादी रेम्जे मैकडोनाल्ड नये प्रधानमंत्री हुए थे लेकिन उनका झुकाव ब्रितानी साम्राज्यवाद के मूलभूत आदर्शों के बचाव की ओर था। इससे उनके भारतीय प्रशंसक निराश हुए। वायसराय लार्ड इरविन राय मशवरे के लिए इंग्लैंड गए। वहां से लौटने पर अक्तूबर 1929 में घोषणा की कि साइमन आयोग की अंतिम रिपोर्ट के बाद एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाएगा जिसमें अधिकतम स्वायतता के अधिकारों के संदर्भ में प्रस्तावों पर सभी दलों की सहमति के लिए बातचीत होगी। सन् 1929 के अंतिम दिनों में गांधी जी और मोती लाल नेहरू के नेतृत्व में आयोजित एक सर्वदलीय सम्मेलन ने इरविन की अक्तूबर की उस घोषणा का स्वागत करते हुए एक ज्ञापनपत्र पर हस्ताक्षर किये जिसमें ब्रिटेन की सदस्यता के प्रमाण के लिए सभी राजनैतिक बंदियों को आम माफी देने की बात कही गई थी। जवाहर लाल नेहरू ने सुभाषचंद्र बोस के साथ एक जवाबी ज्ञानपत्र निकालने की योजना बनाई जिसमें सिद्धांतों पर पहले से अधिक अटल रहने पर बल दिया गया होता। लेकिन उनके पिता और गांधी जी दोनों ने (जो इस वक्त तक उनके उपदेशक अटल बन चुके थे) उन्हें पहले ज्ञापनपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए राजी कर लिया। मुहम्मद अली जिन्ना भी दिल्ली के ज्ञापनपत्र से सहमत थे, पर वे चाहते थे कि दिल्ली के ज्ञापनपत्र में इरविन के घोषणापत्र का बिना शर्त समर्थन होता तो अधिक अच्छा होता। इस प्रकार लाहौर कांग्रेस के प्रसिद्ध स्वतंत्रता प्रस्ताव के ठीक पहले राष्ट्रवादियों का मोर्चा एकता से बहुत दूर था। मतभेद एक ओर पुराने थे, नरमपंथियों का प्रभाव खत्म होने लगा था। उनमें और युवकों का प्रतिनिधित्व करने वाले वामपंथि नेताओं में मतभेद थे। इस वर्ग के खास तौर पर युवकों की

भावनाओं पर प्रभाव डाला था। उनमें पूर्ण स्वराज के लिए अडिग और औपनिवेशिक दर्जा प्राप्त करके संतुष्ट हो जाने वालों में मतभेद थे। एक तरफ गांधी जी तथा मोती लाल नेहरू थे दूसरी तरफ जवाहर लाल नेहरू, सुभाष तथा उनके क्रांतिकारी गुट के लोग इन सारे मतभेदों के बीच केवल युवक नेहरू थे जिन्होंने सन् 1930—40 की राजनीति की दिशा दी।

जैसा कि होना था, वायसराय ब्रितानी सरकार से वे रियासतें दिला पाने में अक्षम रहे जिसकी उम्मीद दिल्ली के ज्ञापनपत्र से की गई थी। परिणाम यह हुआ कि इरविन और क्रांतिकारी के बीच की मैत्री टूट गयी। लाहौर कांग्रेस से ठीक पहले 23 दिसम्बर को जब गांधी मोती लाल और जिन्ना उनसे मिले तो उन्होंने बताया कि वह गोलमेज सम्मेलन से सरकार को भी बिन्दु पर प्रतिबद्ध करा पाने की स्थिति में नहीं होंगे। अंततः गांधी जी वामपंथियों की बिना शर्त पूर्ण स्वराज की मांग के पक्ष में हो गये। बताया जाता है कि उन्होंने कहा था कि मैंने डटे रहने का फैसला कर लिया है। दूसरी तरफ कुछ लोग महसूस करते हैं कि वामपंथी खेमे में शामिल होकर उन्होंने वामपंथियों की अडिगता की स्थिति को कमज़ोर बना दिया।

30 दिसंबर को लाहौर में उस समय, जबकि शहर हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ की कारवाईयों से बुरी तरह थर्राया हुआ था, कांग्रेस ने दिल्ली के ज्ञापनपत्र का अनुमोदन करते हुए एक प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा कि लार्ड इरविन के कथन को दृष्टि में रखते हुए गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के भाग लेने से कोई फायदा नहीं होगा। उसने घोषणा की कि मोती लाल नेहरू समिति द्वारा निर्मित संविधान की योजना की अवधि समाप्त हो गई है और ज़रूरी है कि पूर्ण स्वराज के लिए आंदोलन शुरू हो।

कांग्रेस के प्रस्ताव में इसे नागरिक अवज्ञा कहा गया था। यथार्थवादी गुट ने इसका मतलब विधायिका, कार्यपालिका तथा अन्य सरकारी संस्थाओं का बहिष्कार लगाया। गांधी जी ने उसका समर्थन इसलिए किया था कि वह युवकों द्वारा प्रतिपादित हिंसक क्रांति से डरते थे। उन्होंने कहा: केवल नागरिक अवज्ञा ही देश को आसन्न अराजकता और गुप्त अपराध से बचा सकती है क्योंकि देश में एक हिंसक दल है जो सीधी कारवाई में विश्वास रखता है वह भाषाओं, प्रस्तावों और सम्मेलनों पर ध्यान नहीं देगा। संघर्ष को विधान परिषदों के भीतर चलाने के स्वराजियों के निर्णय को छोड़ दिया गया था, लेकिन सुभाष द्वारा प्रस्तुत यह प्रस्ताव कि रचनात्मक ढंग से एक क्रांतिकारी आंदोलन का संगठन किया जाये और कांग्रेस को देश में एक समानांतर सरकार स्थापित करने के लक्ष्य से मज़दूरों, किसानों और जवानों को संगठित करना चाहिए, पराजित हो गया।

लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन के आंतरिक ढांचे को दुर्बल करने वाले अंतविरोधों को स्वीकार करने के बावजूद हम एकता भाव की उस वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं जो 1 जनवरी, 1930 को देखने को मिली कांग्रेस की पूर्ण स्वराज की मांग के प्रति व्यापक पैमाने पर आम जनता ने

सहानूभुति दिखायी। मांग के औचित्य को केवल युवकों ने ही नहीं वरन् कांग्रेस की पुरानी पीढ़ी के लोगों नरमपंथी स्वराजियों और यथार्थवादियों ने स्वीकार किया। उन्होंने उस वक्त ईमानदारी के साथ महसूस किया कि सरकार भारतीय लोगों को स्वायत्त शासन नहीं देगी। अत: स्वाधीनता ही एकमात्र रास्ता था जिस पर भारत आगे बढ़ सकता था केवल मुस्लिम लीग ब्रितानी सरकार से सहयोग करने वाले विश्वासघाती और उदारपंथियों ने ही पूर्ण स्वराज की मांग का अनुमोदन नहीं किया था। वे अल्पमत में थे। 'साइमन लौट जाओ' आंदोलन ने व्यापक एकता की जो भावना पैदा की वह इस सीमा तक अभी भी बनी है।

स्वतंत्रता आंदोलन चलाने के लिए सुभाष चंद्र बोस तथा अन्य नेताओं ने छोटे—छोटे गिरोहों की स्थापना की। जो इच्छा व्यक्त की थी। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन सन् 1930 में देश में हर जगह आंदोलन को जो व्यापक समर्थन मिला उसने बहुत दूर तक गांधी जी के राष्ट्रवादिता, आत्मसम्मान और गाँवों में रचनात्मक कार्य के संदेश का परिणाम दिया।

नागरिक अवज्ञा आंदोलन की तैयारी

सन् 1930 की जनवरी का महीना भारत में उत्साह का महीना था। आंदोलन शुरू करने की न कोई तिथि निश्चित हुई न ही किसी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की गई थी। इसका फैसला गांधी जी पर छोड़ दिया गया था। बदले में गांधीजी ने मौखिक रूप में यह आश्वासन दिया था कि आंदोलन (जैसा कि चौरी चौरा कांड के बाद हुआ था) स्थगित या समाप्त नहीं किया जाएगा। नेहरू जी ने अपने जीवनचरित में इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा:

> *उन्होंने (गांधीजी ने) हम लोगों में ये धारणा पैदा की कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू हो जाने पर, हिंसा छिटपुट कारवाईयों के कारण खत्म नहीं किया जाएगा...... इस आश्वासन में हम लोगों को काफी हद तक संतुष्ट कर दिया।*

स्वतंत्रता के एक घोषणापत्र को 26 जनवरी, 1930 को पूरे देश में अधिक से अधिक लोगों तक सार्वजनिक ढंग से पहुंचना था। उसे स्वीकार किया गया कि इस तिथि को नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू होगा। इस तिथि को स्वतंत्रता दिवस घोषित किया गया।

स्वतंत्रता के एक घोषणापत्र की शुरूआत ही ऐसी भाषा में की थी जिसने साम्राज्यवाद विरोधियों, उदारपंथियों, क्रांतिकारी जनतंत्रियों और भारतीय समाजवादियों सभी को समान रूप से प्रभावित किया। आंदोलन शुरू करने का कारण:

> *हम विश्वास करते हैं कि किसी भी देश की जनता की तरह भारतीय जनता को स्वतंत्र होने, अपने परिश्रम का फल भोगने और जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने का अविच्छेद अधिकार हैं ताकि उसे अपने विकास का पूरा*

अवसर मिल सके। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार जनता को इन अधिकारों से वंचित करती है, उसका दमन करती है तो जनता को उस सरकार को बदलने या खत्म कर देने का अतिरिक्त अधिकार है। भारत की ब्रितानी सरकार ने भारतीयों को न केवल उनकी स्वतंत्रता से वंचित रखा है बल्कि वह जानता के शोषण पर टिकी हुई है उसने भारत को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बराबर कर दिया है अतः हम मानते हैं कि भारत को निश्चय ही ब्रिटेन से संबंध तोड़ कर पूर्ण स्वराज प्राप्त करना चाहिए।

लेकिन जिन कारणों से घोषणा पत्र ने हर वर्ग और गुट को समान ढंग से प्रभावित किया था उन्होंने कुछ मुद्दों पर विवाद भी पैदा किया। प्राचीन हस्तशिल्प और कृषिजन्य पैदावार सदियों से भारतीयों के जीवनयापन का सहारा थी। उनके विनाश को देश की आर्थिक बर्बादी का कारण बताया था। नये रूपों में धन को निरंतर ब्रिटेन भेजते रहने का भी चर्चा की गई थी। लेकिन आधुनिक औद्योगीकरण की समस्याओं का कोई जिक्र नहीं किया था। हालांकि यह भी उसी अनुपात में ब्रितानी पक्षपात का शिकार हुआ था। राजनैतिक बर्बादी का दोष शिक्षा की प्रणाली को दिया गया था जो स्पष्टीकरण में सचमुच पर्याप्त नहीं था। घोषणापत्र के अनुसार आध्यात्मिक बर्बादी का कारण अनिवार्य निशस्त्रीकरण था। भारतीयों का हथियार रखने की अनुमति नहीं थी। देश में विदेशी सेना ने पड़ाव डाल रखा था। आंतरिक सुरक्षा के लिए विदेशी सेना पर आश्रित रहने की भावना पैदा हो गई थी। इन सभी के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के संघर्ष में हथियार के रूप में गांधीवादी अहिंसक नागरिक अवज्ञा का औचित्य सामने आया।

हमारी यह मान्यता है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने का सबसे प्रभावकारी रास्ता हिंसा से होकर नहीं गुजरता है। अतः जहां तक संभव हो सकेगा हम स्वैच्छिक ढंग से ब्रितानी सरकार से अपने संबंधों को खत्म कर देने की तैयारी करेंगे। हम नागरिक अवज्ञा के लिए तैयार होंगे जिसमें करों का भुगतान न करना भी शामिल होगा। हमारी निश्चित धारणा है कि भड़काये जाने की स्थिति तक में यदि हम हिंसा का सहारा न लेकर स्वेच्छा से दी जाने वाली अपनी सहायता बंद कर दें और करों की अदायगी रोक दें तो इस अमानवीय शासन का अंत निश्चित है।

इसके बाद एक वाक्य था जिसके पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए कांग्रेस के समय—समय पर मिलने वाले निर्देशों पर अमल करने का वायदा था। जिस चौमुखी विनाश ने देश को आच्छादित कर रखा था। उसके विश्लेषण में समाजवादी विचारों की छाया नहीं थी। कार्यकारिणी समिति ने जो

तरीका अपनाया था, वह विदेशी शासकों से हृदय परिवर्तन के आग्रह का। लेकिन इसकी सफलता शासक वर्ग के रवैये पर आश्रित थी।

इसी समय गांधीजी ने अपने पत्र यंग इंडिया में एक लेख जिसमें प्रशासनिक सुधार के 11 सूत्रों का प्रतिपादन था। उनको विश्वास था कि यदि इरविन ने सुधार के उन सूत्रों को स्वीकार कर लिया तो नागरिक अवज्ञा आंदोलन रोका जा सकेगा। अभी भी वह अपनी कारवाईयों की योजना को लेकर निश्चित नहीं थे। महान् भारतीय कवि और राष्ट्रवादी तथा कहीं अधिक परिवर्तनकामी रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पूछा तो गांधीजी ने उ त्तर दिया—

मैं रात दिन क्रोधोन्मत होकर सोच रहा हूं लेकिन कोई रोशनी अंधेरे के बाहर आती दिखाई नहीं देती है।

कुछ देर से अर्थात् 6 मार्च, 1930 को उन्होंने इरविन को पत्र लिखते हुए उन बुराइयों को तत्काल समाप्त करने की मांग की जिनका जिक्र उनके 11 सूत्रीय लेख में था। उन्होंने पत्र में यह संकेत दिया था कि यदि मांगे स्वीकृत नहीं हुई तो उन्हें ब्रितानी कानूनों को ऐसे तरीके से तोड़ना पड़ेगा जो किसानों को ग्राहय होगा जवाहर लाल नेहरू ने अपने जीवनचरित में विवशतापूर्वक टिप्पणी की:

जब हम लोग विशेष ढंग से स्वतंत्रता की बात कर रहे थे तब राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की सूची बनाने का क्या औचित्य था ? जब गांधीजी ने ऐसा कहा तो क्या उनका तात्पर्य भी वही था जो हमारा था या हम लोगों ने कोई और भाषा बोली थी।

नमक सत्याग्रह

अंततः गांधीजी ने निश्चय किया कि वे 12 मार्च, 1930 को अपने चुने हुए 78 अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम छोड़ देंगे और गुजरात के गांवों से होते हुए 200 मील दूर समुद्र तट पर स्थित दांडी तक की पैदल यात्रा करेंगे। वहां पर अपने अनुयायियों के साथ खुले ढंग से कानून तोड़ते हुए समुद्र के पानी से नमक बनायेंगे। गांधी जी की दांडी यात्रा के साथ—साथ देशवासियों में आमतौर पर राष्ट्रीय चेतना की एक बिजली दौड़ गई। एक दुबली पतली किसान सी दिखती आकृति अपनी छड़ी के सहारे कदम रखते हुए गांधी जी जैसे आगे बढ़ रहे थे। पूरी राह में ग्रामीण जनता उनके दर्शन के लिए उमड़ती आ रही थी। वे नमक कानून तोड़ने जा रहे थे क्योंकि सरकार द्वारा कर लगाने के कारण रोज की ज़रूरत की एक चीज की कीमत बढ़ गई थी। स्वयंसेवकों के झुंड आकर उनके साथ होते गए। एक शांतिपूर्ण कारवां दांडी की ओर बढ़ रहा था।

सारे देश में, बड़े शहरों के निम्न मध्यम वर्ग के लोगों में, उत्साह की एक तीव्र लहर दौड़ गई। इसकी एक अभिव्यक्ति थी नागरिक अवज्ञा आंदोलन में स्त्रियों का प्रवेश। 30 अप्रैल के यंग इंडिया में गांधी जी ने भारतीय स्त्रियों से चरखे पर सूत कातने और अपने घरों के एकान्त से बाहर निकलकर विदेशी वस्तुएं और शराब बेचने वाली दुकानों तथा सरकारी संस्थानों पर धरना देने का आग्रह किया था। इसके पहले बहुत कम औरतों ने सार्वजनिक किस्म के राजनैतिक प्रदर्शनों में हिस्सा लिया था उनमें से भी अधिकतर या तो चि त्तरंजन दास या मोती लाल नेहरू जैसे राष्ट्रीय नेताओं के परिवार से संबद्ध थी और अपने को गिरफ्तार कराया। केवल दिल्ली में, जो कि उन दिनों पुराणपंथी शहर था 1,600 और औरतों को राजनैतिक कारवाईयों के लिए जेल की सजा मिली। बंबई में बहुत बड़ी संख्या में प्रथम वर्ग की औरतों ने राष्ट्रीय संघर्ष में हिस्सा लिया। अंग्रेज़ पर्यवेक्षकों तक ने लिखा है। कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन से और किसी उद्देश्य की पूर्ति हुई या नहीं, उसने बड़े पैमाने पर भारतीय स्त्रियों को सामाजिक मुक्ति दिलाने का महान् कार्य किया। आंदोलन में भारतीय स्त्रियों को मुक्त करा पाने में जो सफलता नहीं मिली थी, वह इस आंदोलन ने हफ्तों में प्राप्त कर ली।

इस बीच अप्रैल, मई 1930 की गर्मी में कांग्रेस के छोटे—छोटे स्वयंसेवकों ने नमक कानून का उल्लंघन किया इसके पहले कि गांधी जी धरसना के सरकारी भंडार पर सत्याग्रह करके नमक बनाते, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी जगह पर अब्बास तैयबजी आंदोलन के नेता हुए। तैयबजी बंबई के महान् राष्ट्रवादी मुस्लिम परिवार के वंशधर थे उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरी नेता आग उगलने वाली कवयित्री और राष्ट्रवादी सरोजिनी नायडू थी। 21 मई को श्रीमती नायडू के धरसना पर धावा बोलने के प्रयत्न का विशद वर्णन वेब मिलर नाम के एक अमरीकी पत्रकार ने किया जो घटनास्थल पर बड़ी कठिनाई से पहुँच पाये थे।

यात्रा शुरू करने से पहले श्रीमती नायडू ने प्रार्थना का आग्रह किया। एकत्रित हुये सारे लोग झुक गये। उन्होंने उद्बोधन करते हुए कहा, भारत की प्रतिष्ठा आपके हाथों में है। आप पर मार पड़ेगी लेकिन आप उसका प्रतिरोध नहीं करेंगे यहां तक कि बचाव में भी आप अपने हाथ नहीं उठायेंगे भारी जयजयकार के साथ उनका भाषण खत्म हुआ।

स्वयंसेवकों ने धीरे—धीरे और शांतिपूर्वक आधे मील की नमक भंडार की यात्रा पूरी की। नमक भंडारों को हर ओर से पानी भरी खाइयों से घेर रखा गया था। उसकी रखवाली के लिए सूरत पुलिस के 400 सिपाही तैनात थे। उन्हें आदेश देने के लिए आधा दर्जन अंग्रेज़ अधिकारी थे। पुलिस के पास पांच फुटी लाठियां थीं, जिनके सिरों पर लोहे जड़े थे। कंटीले तारों के भीतर, यहां पर भंडार था 25 बंदूकधारी जवान खड़े थे।

......धारा 144 हाल ही में लागू हुई थी जिसके अनुसार किसी भी एक जगह पर पांच आदमी से अधिक एकत्र नहीं हो सकते थे। पुलिस अधिकारियों ने यात्रा करने वालों को तितर बितर हो जाने का आदेश दिया। एक चुना हुआ दस्ता चेतावनी की चुपचाप उपेक्षा करता हुआ आगे बढ़ा...... देशी पुलिस के दर्जनों जवान आगे बढ़ते हुए स्वयंसेवक पर झपट पड़े और अपनी लोहेजड़ी लाठियों से उनके सिरों पर बतहाशा मारना शुरू किया। स्वयंसेवकों में से एक ने भी बचाव में अपना हाथ ऊपर नहीं उठाया। मैंने असुरक्षित खोपड़ियों पर बरसती हुई लाठियों की घातक तड़तड़ाहट सुनी, इंतजार करती हुई भीड़ हर तड़तड़ाहट के साथ स्वयंसेवकों की सहानुभूति में आहें भरती रही।

...... दो तीन मिनटों में जमीन घायल शरीरों से भर गयी। उनके सफेद कपड़ों पर खून के बड़े—बड़े धब्बे फैल गए जब पहले दस्ते के सभी लोग गिर गए, तब स्ट्रेचरवाहक झपट कर वहां पहुंचे और आहतों को उठाकर ले गए। पुलिस ने वाहकों से छेड़खानी नहीं की।

तब तक दूसरा दस्ता तैयार हो गया। नेता उनसे आत्मनियंत्रण रखे रहने की पैरवी करते रह। स्वयंसेवक आगे बढ़े इस बार उन्हें उद्‌बुद्ध करने के लिए कोई गान, कोई जयजयकार नहीं हुई ऐसी कोई संभावना नहीं थी जो उन्हें जख्मी होने या मरने से बचा सके। पुलिस झपटी और उसने विधिवत और मशीनी ढंग से दूसरे दस्ते को धराशायी कर दिया। मैंने एक के बाद एक 18 आहतों को उठाकर ले जाये जाते हुए देखा। 42 जख्मी अभी भी जमीन पर पड़े हुए स्ट्रेचर वाहकों के इंतजार में थे। उनके शरीरों से खून बह रहा था।

इसके बाद भारतीय पुलिस के सिपाहियों का विस्तार से वर्णन था, जो तितर बितर होने के आदेश का उल्लंघन करने वाली प्रतीक्षारत भीड़ को आगे बढ़कर मारकर गिरा रही थी। मिलर की अपनी प्रतिक्रिया थी:

कई बार प्रतिरोधविहीन व्यक्तियों को विधिवत मार कर खून से लथपथ कर देने वाले दृश्य देखकर मैं बीमार जैसा अनुभव करने लगा। इतना बीमार कि मैंने उधर से अपनी निगाह घुमा ली मुझे असहाय क्रोध और नफरत का ऐसा अहसास हुआ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

अहिंसक संगठन लगभग कई अवसरों पर टूटा। नेताओं को बुरी तरह से उत्तेजित व्यक्तियों की गांधीजी के आदेश याद रखने का आग्रह करना पड़ा। ऐसा लगा कि निहत्थी भीड़ पुलिस पर व्यापक ढंग से टूट पड़ने वाली थी। अंग्रेज पुलिस अधीक्षक अपने बंदूकधारियों को एक छोटी सी

चोटी पर ले गया और भीड़ पर गोली चलाने को तैयार हो गया। लेकिन नेता स्वयंसेवकों पर नियंत्रण रखने में सफल हो गये।

दोपहर के 11 बजते मौसम बहुत गर्म हो गया। तापमान 116 डिग्री फार्नहाइट पर पहुंच गया था और प्रदर्शन समाप्तप्राय था। 320 व्यक्ति बुरी तरह जख्मी हुए थे और 2 की मृत्यु हुई थी। उनकी सेवा करने वाले राष्ट्रवादी डॉक्टरों की संख्या कम थी।

जब मिलर ने अपना संवाद विश्व प्रेस को भेजना चाहा तो उसे अधिकारियों ने तत्काल रोक दिया और बाद में उसे सेंसर कर दिया। काफी बाद में मिलर ने उसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया।

गांधी जी की गिरफ्तारी के विरोध में सारे देश में प्रदर्शन आयोजित हुए। बंबई में भिंडी बाजार वाडला और साल्पैन में दंगे भड़क उठे लेकिन जो जुलूस यूरोपीय आवासों के रास्ते से गुजरा, वह बिल्कुल शान्तिपूर्ण था। मद्रास में पुलिस ने अंधाधुंध पिटाई की। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में विदेशी कपड़ों का सबसे अधिक बहिष्कार हुआ। उत्तर प्रदेश में किसानों और जमीदारों से राजस्व न अदा करने का आहवान किया गया। अक्तूबर, 1930 के बाद किसानों से कहा गया कि वे जमींदारों को लगान न दें। मध्यप्रांत में जंगल कर के विरूद्ध सत्याग्रह किया गया। कर्नाटक में कर का भुगतान न करने का एक सफल आंदोलन हुआ।

आंदोलन का तेजी से प्रसार हुआ और वह देश के दूर दराज क्षेत्रों तक पहुंच गया। पश्चिमोतर सीमाप्रांत की पश्चिमी पहाड़ियों में पठान आदिवासी ब्रितानी शासन के विरुद्ध प्रायः विद्रोह कर रहे थे।

पेशावर के नजदीक के एक गांव उत्तरमनजई के एक सरदार खान अब्दुल गफ्फर खां ने पहली पठान शिक्षा समिति गठित की थी। उन्होंने सन् 1919 में हिजरत और पठानों के समर्थन में कार्य किया था। जिसके कारण उन्हें पहले जेल में और फिर लंबे समय के लिए प्रांत से बाहर निर्वासन में रखा गया। सन् 1929 के कुछ पहले ही वह लौटे थे। उनके बड़े भाई डॉक्टर खां साहब को आधुनिक शिक्षा का लाभ प्राप्त था। अब्दुल गफ्फार खां ने बड़े भाई के साथ अहिंसक गांधीवादी आंदोलन के समर्थन में बहुत से पठानों को संगठित किया था। वह अपनी चारित्रिक शक्ति और दृढ़ता के लिए इतने अधिक लोकप्रिय थे कि उन्हें सीमांत गांधी कह कर पुकारा जाने लगा था। उन्होंने पहले पराम जिगा या कबली समिति की एक राष्ट्रवादी शाखा का संगठन किया। यह शाखा कांग्रेस की स्वयंसेवक टुकड़ियों की तरह थी जो खुदाई खिदमतगार नाम से लोकप्रिय हुई वे अपनी वर्दी के कारण लाल कुरती के रूप में भी पुकारे जाने लगे। उन्होंने पठानों की क्षेत्रीय राष्ट्रीय आवाज़ उठाई। उन्हें गरीब किसानों और शहर के हस्तशिल्प के कारीगरों दोनों का व्यापक समर्थन मिला। 1930 में खुदाई खिदमतगारों की संज़्या 80 हजार थी। देश के दूसरे भागों में गांधीवादी नेताओं को अपने अनुयायियों पर नियंत्रण रखने में जितनी कठिनाई हुई, उससे कहीं अधिक कठिनाई खान को अपने अनुयायियों की हिंसक उत्तेजना पर नियन्त्रित करने में हुई।

20 अप्रैल, 1930 को बकरीद के अवसर पर बड़ी संख्या में पेशावर में गरीब किसान जमा होने वाले थे। नागरिक अवज्ञा आंदोलन इसी मौके पर शुरू किया जाने वाला था। सीमा के बहुत से कबायली मैदानी इलाकों में मौसमी काम खत्म करने के बाद ईद के उत्सव में भाग लेने के लिए उपस्थित थे और जल्द ही अपने घर लौट जाने वाले थे। जब स्थानीय कांग्रेसी जन गिरफ्तार हो गए तो शहरी विरोध में उठ भीड़ खड़ी हुई और उन्हें पुलिस की गिरफ्त से छुड़ा लेने की कोशिश की। कबायली भी उस भीड़ के साथ हो गए। आक्रोश बढ़ गया और दोनों ओर से गोलियाँ चलीं। एक जनविद्रोह शुरू हो गया। पेशावर के विद्रोह को कुचल देने के लिए जो ब्रितानी बखतरबंद गाड़ियां भेजी गई थी, उन्हें रोकने के लिए अवरोध खड़े कर दिये गए। अधिकारियों और नगर के अभिजात वर्ग के लोगों ने सेना की छावनी में शरण ली। इसी के साथ—साथ लड़ाकू सिख सुधारकों और राष्ट्रवादी अकालियों ने सेना के भारतीय सिपाहियों में विद्रोह भावना पैदा करना शुरू कर दिया था। जब रायल गढ़वाल राइफल्स के दो प्लाटूनों के क्रैकहिल सैनिकों को भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दिया गया तो उन्होंने अपने एक साथी को चंद्रसिंह गढ़वाली के अनुरोध पर ध्यान दिया और गोली चलाने से इंकार करते हुए अपने मुसलमान पठान भाइयों के साथ मित्रवत व्यवहार करना शुरू कर दिया। यह एक और प्रमाण था फूट डालो और राज करो की ब्रितानी नीति की दुर्बलता का। यदि इन शोषित लोगों को संगठित रहने की शिक्षा पहले ही दे दी जाती तब नीती सफल न हो पाती।

छावनी से आये अंग्रेज सैनिकों ने ब्रितानी प्लाटूनों को घेर लिया और बाद में उन पर सैनिक न्यायालय के कानून के अनुसार (कोर्ट मार्शल) मुकद्दमा चला। उनके कुछ नेताओं को विद्रोह करने के अपराध में मृत्युदंड दिया। बहरहाल, मई के प्रारंभ में पहाड़ियों के अफरीदी और मुहम्मद कबीले के लोग विद्रोह में शामिल होने के लिए पेशावर तक पहुंचे। पंजाब में, विशेषकर अकालियों की तरफ से, पेशावर के प्रति एकता का प्रदर्शन किया गया। उन्होंने यहां स्थानीय विद्रोहियों की सहायता के लिए अपना एक दस्ता भेजा। इस दस्ते को झेलम नदी पर ब्रितानी सैनिकों ने रोक लिया। अंततः ब्रितानी सेना दंड देने की मुहिम पर पश्चिमोतर सीमा प्रांत में प्रवेश कर गई और कबालियों को खदेड़कर पहाड़ियों में वापस भगा दिया।

पूर्वी बंगाल के बंदरगाह चिटगांव में एक कुशल क्रांतिकारी सूर्यसेन के नेतृत्व में, वहीं के निम्न मध्यवर्ग के युवकों ने एक सशस्त्र विद्रोह करने की कोशिश की थी। श्री दास ने सन् 1918 में बंगाल के एक क्रांतिकारी गुट के रूप में अपनी कार्रवाईयों की शुरूआत की थी। बाद में वह सन् 1921 में असहयोग आंदोलन में शामिल हुए और एक स्थानीय राष्ट्रीय स्कूल में शिक्षक बन गए। इन गुटों ने एक साथ ही पूर्व बंगाल के शास्त्रगारों पर आक्रमण करने और सशस्त्र विद्रोह करने की योजना बनाई।

सूर्यसेन के नयाब अंबिका चक्रवर्ती, एक स्थानीय कांग्रेसी लोकनाथ बाल तथा बाद के वर्षों में एक मशहूर कम्युनिस्ट गणेश घोष ने स्थानीय स्कूल कालेज के छात्रों को क्रांतिकारी कार्रवाईयों लिए प्रेरित और संगठित किया। इनमें आनंद गुप्त और तेगरा बाल (टाइगर) जैसे तरुण और कल्पना दत्त तथा प्रीतिलता वादेदार सरीखी साहसी युवतियां थीं।

सूर्यसेन ने 18 अप्रैल, 1930 को चटगांव नगर में, भारतीय रिपब्लिकन सेना की चिटगांव शाखा की ओर से, एक घोषणा पत्र जारी किया जिसमें भारतीयों से ब्रितानी शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने का आह्वान किया गया था। उसी रात अपने सहयोगियों सहित चिटगांव में चार केन्द्रों पर यूरोपियों पर आक्रमण करने के लिए निकल पड़े। भेष बदलने की गरज से उन्होंने ब्रितानी भारत की सेना की वर्दियां पहन लीं और 50 युवकों के साथ पुलिस शास्त्रगार पर आक्रमण किया। यह घटना चिटगांव शस्त्रगार आक्रमण के नाम से जानी गई।

लेकिन जल्दबाजी में आक्रमणकारी लूटी हुई लेविस बंदूकों और राइफलों के लिए कारतूस ले जा पाने में सफल नहीं हुए। पुलिस के सहायक महानिरीक्षक की देखरेख में एक सरकारी टुकड़ी ने जो (शस्त्रों आदि की दृष्टि से बहुत संपन्न नहीं थी) उन पर आक्रमण कर दिया और उन्हें नगर से खदेड़कर चिटगांव के पार की पहाड़ियों मे चले जाने पर विवश कर दिया। 22 मई को ब्रितानी रेजीमेंट ने अपने जलालाबाद पहाड़ी क्षेत्र में 57 क्रांतिकारी को घेर लिया, लेकिन उनमें से बहुत से क्रांतिकारी गुरिल्ला युद्ध शुरू करने के लिए बच निकलने में सफल रहे। वहां 64 ब्रितानी सैनिक मरे पड़े थे। तेगरा बाल गोलीचालन शुरू होने के बाद ही घायल हो गए थे लोकनाथ से उन्होंने अंतिम शब्द कहे मैं जा रहा हूँ युद्ध अन्त तक करना।

बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन इसी के बाद फैला। अगस्त में ढाका के मिंटफोर्ड हास्पिटल स्कूल के छात्र विनय बोस ने पुलिस के एक वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारी की ढाका में गोली मार कर हत्या कर दी और गिरफ्तारी से बच निकले। श्री बोस दिसंवर में बादल और दिनेश के साथ कलकत्ता के डलहौजी सक्वेयर स्थित सरकारी मुख्यालय राइटर्स बिल्डिंग में घुसे। उन्होंने जेलों के महानिरिक्षक को उसके कार्यालय में ही गोली मार दी और गलियारों से भागते सामने पड़ने वाले यूरोपीय अधिकारियों को अपनी पिस्तौलों का निशाना बनाते गए। पकड़े जाने के बजाय बादल ने साइनाइड खाकर अपना अंत कर दिया। विनय और दिनेश ने खुद को गोली मार ली। विनय कुछ दिनों के बाद मर गए। दिनेश बच गए थे उन पर मुकद्दमा चला और उन्हें फांसी दी गई।

क्रांतिकारी आंदोलन को उत्तर भारत में दक्ष चंद्रशेखर आज़ाद ने जिंदा रखा। पुलिस ने उनके साथियों को पकड़ लिया और बम आदि मिलने के स्त्रोतों का पता लगा लिया। लेकिन वह गिरफ्त में नहीं आ सके। फरवरी, 1931 में पुलिस के विश्वासघात के कारण इलाहाबाद के एलफ्रेड पार्क में लड़ते वह वीरगति को प्राप्त हुए। उनका शरीर गोलियों से छलनी हो गया था। उसके पहले सन् 1930 में

सरकार ने लाहौर षड्यंत्र केस अध्यादेश के अंतर्गत ऐसे उच्च कानूनी अधिकार के बिना भगतसिंह और उसके साथियों पर मुकद्दमे चला सकती थी। 7 अक्तूबर को भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु को मृत्यु दण्ड और उनके दूसरे साथियों को आजीवन देशनिकाले की सजा दे दी थी। उनमें से बहुतों को पोर्टब्लेयर स्थित कुख्यात सेलुलर जेल में नजरबंद रखा गया। (क्रांतिकारी नेताओं के ये आक्रमण पूर्वी बंगाल और उत्तर प्रदेश के निम्न मध्यम वर्ग के युवकों की देशभक्ति के आवेग का प्रतिबिंब सामने लाते हैं। ये आवेग राष्ट्रीय आंदोलन के परंपरागत रास्तों के जरिये अभिव्यक्ति नहीं पा सकते थे। अहिंसा का गांधीवादी दर्शन भी उनकी कल्पना को आकर्षित नहीं कर पाया, अतः वे आंदोलन के रास्ते पर मुड़े। लेकिन उसमें हिस्सा लेने वाले लड़के लड़कियों के साहस के बावजूद उनकी हिंसक कार्रवाईयों में ही उनके अभिशाप के बीच छिपे हुए थे। इसलिए सरकारी पुलिस और सेना की शक्ति के सामने उनकी असफलता निश्चित थी। ब्रितानी सरकार सचमुच भयभीत नहीं थी। उसने केवल एक कठोर निश्चय किया था। क्रांतिकारी नेताओं की जड़ें उखाड़ फेंकने और उन्हें बर्बाद कर देने का एक कारण यह था कि क्रांतिकारी, आक्रमणों की स्फूर्ति के बाद में एक सहानुभूतिपूर्ण जनविद्रोह नहीं हुआ। चूंकि आम जनता को क्रांतिकारीयों, आक्रमणों ने न तो संगठित किया था और न ही उसे राजनीति के रंग में रंगा था, वह हिसंक क्रांति लाने या उसमें हिस्सा लेने के लिए तैयार नहीं थी।

पर अन्य जगह पर मज़दूरों द्वारा जन विद्रोह हुआ था। वह जगह थी शोलापुर, दक्षिणी महाराष्ट्र का रूई पैदा करने वाला जिला। यहां पर नागरिक अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत, स्थानीय कांग्रेस समिति द्वारा स्थापित 'युद्ध परिषद्' द्वारा मई में हुई। नगर में राष्ट्रीय झंडा फहराया गया था जबकि पुलिस तथा ब्रितानी राज के वफादार नागरिक और अधिकारियों ने भागल रेलवे स्टेशन पर शरण ली थी।

शोलापुर का समाचार सुनकर ब्रितानी अधिकारियों ने ब्लैक आऊट कर दिया। दो हज़ार अंग्रेज़ सैनिकों को विद्रोह को दबाने के लिए शोलापुर भेजना पड़ा। बहुत से विद्रोही क्रांतिकारियों को या तो फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया या जेल में डाल दिया गया।

इन क्रांतिकारी कार्रवाईयों के साथ—साथ बहुत से किसान आंदोलन फैले। इनको बढ़ाने का कारण सन् 1930—40 के बीच का 'कर न चुकाने का' आंदोलन था। लेकिन इसकी जड़ें भू—स्वामियों द्वारा किसानों के शोषण की गहराई में थी।

दुनियाभर के पूंजीवादियों की संकट की स्थिति के कारण कृषिजन्य पैदावारों की कीमत अंतर्राष्ट्रीय बाजार में गिर गयी थी। जैसे—जैसे बिक्री में किसानों के मुनाफे का हिस्सा कम हुआ, वे भूस्वामियों को लगान रूप में और सरकार को राजस्व तथा दूसरे करों के रूप में बकाया अदा करने में निरंतर असमर्थ होते गये।

उत्तर प्रदेश की कांग्रेस समिति (जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे) ने मार्च, 1930 में एक प्रस्ताव पास करके सुझाव दिया कि भूमि कर में कमी करने, साहूकारों को केवल आंशिक मुआवजा देकर सभी कर्ज़ों के भुगतान की कानूनी मोहलत लेने और किसानों को बेदखल करने के भूस्वामियों के स्वैच्छिक अधिकार को सीमित करने के मामलों को भी राष्ट्रीय कार्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के केवल भू—कर में कमी का प्रस्ताव स्वीकार किया जिससे किसान और भू—स्वामी दोनों ही संतुष्ट हुए। उसने दूसरे मसलों को स्वीकार नहीं किया।

'कर न चुकाने का' आंदोलन अवध के इलाहाबाद जिले में शुरू हुआ, जहां एम. एन. राय और उनके अनुयायियों ने गांवों में समाजवादी विचारधारा का प्रचार करने में कांग्रेस का साथ दिया। पूर्व बंगाल के किशोरगंज क्षेत्र में केवल पटसन की खेती होती थी। पूंजीवादी दुनिया में मंदी आ जाने के कारण पटसन की कीमतें गिर गयीं और उसे पैदा करने वाले किसान संकटग्रस्त हो गये। उन्होंने लगान की अदायगी बंद कर दी। कलकत्ता के मज़दूरों ने उन्हें सहानुभूति और समर्थन दिया। किशोरगंज में किसानों के उस आंदोलन चक्की को दबाने के लिए कलकत्ता से सैनिक टुकड़ियां भेजनी पड़ीं। बरार के बुलदाना जिले में दुकानदारों और साहूकारों ने किसानों की मुख्य फसल कपास खरीद ली और उन्हें इतनी निर्दयतापूर्वक चूस लिया कि वे विपज्ति में पड़ गये। स्थानीय भू—स्वामियों ने किसानों और खेतिहरों का शोषण करने की अपनी रफ्तार तेज कर दी। अतः दिसंबर में वुलदाना के मज़दूरों और खेतिहरों ने एक किसान संघ की स्थापना की जिसने कर, लगान और सूद की अदायगी न करने का आह्वान किया। किसान स्वयंसेवकों ने संगठित रूप से कर वसूल करने वाले ब्रितानी अधिकारियों का प्रतिरोध किया। वे नगाड़े बजाते हुए गांव—गांव घूमे, भू—स्वामियों और साहूकारों की संपत्ति तथा फसल को जब्त किया और उनके घरों में आग लगा दी। इस काम ने विभिन्न जातियों को, हिंदुओं और मुसलमानों सभी को समान ढंग से एकबद्ध किया। यह ग्रामीण गरीबों का वास्तविक विद्रोह था। एक बार फिर विद्रोह को कुचलने के लिए पुलिस की सहायता में सेना की टुकड़ियां भेजनी पड़ीं। इस तरह के किसान विद्रोहों की ओर विश्व का, यहां तक कि देश का भी, ध्यान इस तरह आकर्षित नहीं हुआ जैसे दांडी यात्रा के अवसर पर हुआ था। लेकिन उसने अखिल भारतीय किसान सभी के प्रारंभिक केन्द्र बिन्दु का निर्माण किया। सभा ने काफी हद तक किसान वर्ग में यह चेतना जगाई कि साम्राज्यवाद ही वे परिस्थितियां पैदा करने को जिम्मेदार था जिनमें उसका शोषण किया जा रहा था युद्धोन्मुख किसानों ने अपने वर्ग के लिये संघर्ष किया लेकिन उन्होंने शहरों के उन साहसी क्रांतिकारियों से भी सहानुभूति दिखाई जो देहाती क्षेत्रों में काम कर रहे थे। अतः हमें पता चलता है कि उन जन आंदोलनों में विभिन्न तार जुड़े थे। सन् 1930 के नागरिक अवज्ञा से निकले। उनमें से सभी का संगठन गांधीवादी अहिंसा के आधार पर नहीं हुआ था।

शासकीय प्रतिक्रिया

जन आंदोलन के हिंसक रूप लेने के पहले भी सरकारी प्रतिक्रिया में समझौते की बात बिल्कुल नहीं थी। इमर्सन नाम के भारतीय नागरिक सेवा (आई. सी. एस.) के एक अधिकारी दिल्ली में गृह विभाग के सचिव थे। पूर्व बंगाल में एक जिला अधिकारी की हैसियत से उन्होंने दमन में बड़ा नाम कमाया था। उन्होंने नागरिक अवज्ञा आंदोलन पर बुरी तरह प्रहार किया। अप्रैल, 1930 के आखिरी दिनों में अध्यादेश जारी किये गये। प्रेस से जमानतें मांगी गयीं। कांग्रेस संगठनों को गैरकानूनी करार दिया गया। सरकार को यह अधिकार दे दिया गया कि वह उनकी संपत्ति जब्त कर लें। कानून तोड़ने वालों को बहुत बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया गया। मई के प्रारंभ तक कांग्रेसी नेता जेल में ठूंस दिये गये। उसके बाद कांग्रेस के नेताओं, कार्यकर्ताओं से लेकर उनसे सहानुभूति रखने वालों तक पर जुल्म ढाना शुरू हुआ।

कांग्रेस ने विभिन्न लोगों द्वारा सरकार के विरुद्ध लगाये जोर जुल्म के आरोपों की जांच के लिए एक गैर—सरकारी आयोग की नियुक्ति की। आयोग के नतीजों को कांग्रेस के आरोप—पत्र शीर्षक से प्रकाशित किया गया। उसमें देश के विभिन्न भागों में किये गये अधिकारियों के अत्याचार के उदाहरण थे। ब्रितानी सिपाहियों के जन—विद्रोह शुरू हो जाने पर शहरों में राह चलते औरतों—मर्दों पर जो बर्बर अत्याचार किये थे, उनकी हर जगह की कहानी एक ही जैसी थी। पहली बार मद्रास में एक ऐसे व्यवहार की बात सुनी गयी तो बाद में सारे देश में आम हो गयी थी।

गैर—कानूनी ढंग से एक जगह जमा होने वाले लोगों का चालान करने का पुलिस ने एक नया तरीका अपनाया। वह विभिन्न केन्द्रों में धरना देने वाले लोगों को इकट्ठा करती, फिर उन्हें लारी में बैठाती और फिर शहर से काफी दूर ले जाकर उन्हें छोड़ देती। अब वे चाहे जैसे भी हो, घर वापस पहुंचे। उनके पास पैसे भी नहीं होते थे।

कर्नाटक के अंकोला और सिद्दापुर ताल्लुकों के 2,000 व्यक्तियों के 330 परिवारों की जमीनें जब्त कर ली गयीं। 116 मकानों पर से मालिकों के अधिकार खत्म कर दिये गये। उनकी चल संपत्ति कुर्क कर दी गयी। दंडित व्यक्ति प्रायः गरीब थे जिनके पास सीमित माल—असबाब होता था। सिद्दापुर में 37 औरतों ने उन लोगों के दरवाजों पर भूख हड़ताल की थी जिन्होंने जब्त संपत्ति नीलामी में खरीदी थी। लेकिन यह तथ्य कि अभी भी ऐसे लोग थे जो संपत्ति खरीदने को तैयार थे, प्रमाणित करता है कि गांधी जी के दर्शन को उस वक्त तक सारे देश ने स्वीकार नहीं किया था।

बंगाल में गोली—लाठीचार्ज एक आम बात हो गयी थी। पुलिस ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। वहां उसने कक्षाओं में घुस—घुस कर निर्दोष छात्रों को बेरहमी से पीटा। गुजरात में

किसानों ने राज्य सीमा पार कर बड़ौदा की रियासत में विस्थापित होना शुरू किया। भारत के अंग्रेज मित्र एच. एन. वेल्सफोल्ड ने इस अद्भुत विस्थापन को रिर्पोट में लिखा:

> *कुछ ने अपनी अच्छी फसलें जला दीं क्योंकि कटनी काफी देर से होने वाली थी और वे उसे उठाकर नहीं ले जा सकते थे। मैं उनके एक कैंप में गया। उन्होंने रहने के लिए दीवार की जगह पर चटाइयां घेर रखी थीं। छ त खजूर के पत्तों की थी। मैंने उनके एक बड़े गिरोह से पूछा कि उन्होंने क्यों अपने घर द्वार छोड़ दिये ? औरतों ने सबसे जल्द और सीधा—सा उत्तर दिया, 'क्योंकि महात्मा जी जेल में हैं।' पुरुषों में अभी भी आर्थिक संकट की चेतना थी, 'खेतों में कोई लाभ नहीं है और कर अन्यायपूर्ण है'। एक दो ने कहा 'स्वराज पाने के लिए'।*

वेल्सफोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में विस्तारपूर्वक लिखा था कि सूरत की पुलिस ने किस तरह घर लौटने के इच्छुक लोगों को धमकाया।

पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले में गुरखा सैनिकों और सामूहिक जुर्माना करने वाली पुलिस ने जोर जुल्म की बागडोर बिल्कुल कस दी। यहां तक कि उन्होंने औरतों तक को नहीं बख्शा। किसानों ने खुशी—खुशी विनाश को बदार्शत किया। उनकी झोपड़ियां और अन्य संपत्ति बर्बाद कर दी गई लेकिन उसके बावजूद उन्होंने कर देने से इंकार कर दिया।

पहला गोलमेज सम्मेलन

यह सारी विर्पत्ति पैदा करने वाले साइमन आयोग ने सन् 1930 के मध्य में अंतत: अपनी रिर्पोट प्रस्तुत की। नवंबर में ब्रितानी सरकार ने लंदन में रैम्जे मैकडोनाल्ड की खुद की अध्यक्षता में पहले गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया। यह सम्मेलन भारत के सर्वदलीय सम्मेलन का एक संस्करण था। कांग्रेस ने स्वभावता उसका बहिष्कार किया। अन्य भारतीय सदस्यों तथा देशी राजाओं के प्रतिनिधियों ने सहमति दी कि देशी रियासतों को शामिल करके एक भारतीय संघ बनाना चाहिए जिसमें संसदीय प्रणाली की सरकार हो। औपनिवेशिक हैसियत का सामूहिक दायित्व पर आधारित कार्यपालिका का एक मंत्रीमण्डल स्वरूप सम्मेलन को स्वीकार्य था।

इसके तत्काल बाद ही कार्यकारिणी के उन सदस्यों को रिहा कर दिया गया जो जेल में थे। गोलमेज सम्मेलन के प्रतिनिधियों के भारत लौटने पर तेजबहादुर सप्रू गांधी जी से मिले और उन्हें कांग्रेस के नाम पर लार्ड इरविन से मिलने और बातचीत करने के लिए राजी कर लिया।

इसी दौरान दिसंबर, 1930 में मुस्लिम लीग ने इलाहाबाद के अपने सम्मेलन में नागरिक अवज्ञा आंदोलन का खुलकर विरोध किया। इसी कारण इरविन को यह दावा करने का मौका मिल गया

गांधीजी उस वर्ग के हितों की बात नहीं करते, अतः कांग्रेस भारत के सभी लोगों की प्रतिनिधि नहीं है।

गांधी—इरविन समझौता

17 फरवरी से 5 मार्च, 1931 तक गांधीजी इरविन से समझौते की बातचीत करते रहे। कांग्रेस का स्वतंत्रता का प्रस्ताव और 26 जनवरी का वायदा, दोनों की समझौते की बातचीत के दौरान उपेक्षा की गयी। इससे नेहरू और दूसरे वामपंथी नेता बहुत दुखी हुए। गांधीजी ने सहमति दे दी थी कि पहले गोलमेज सम्मेलन में जो समझौते हुए थे उनके आधार पर विचार विमर्श का सिलसिला शुरू होगा। सरकार द्वारा यह आश्वासन दिये जाने पर हानि उठाने वालों को हर्जाना मिलेगा, नागरिक अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर दिया जायेगा। 5 मार्च, 1931 को दिन के ढाई बजे बातचीत के परिणामों पर विचार विमर्श करने के लिए कार्यकारिणी की बैठक हुई और उसमें दो वर्ग हो गये। समझौते की बातचीत के लिए इरविन के तैयार होने को बहुत से लोगों ने कांग्रेस की सफलता माना और उसकी प्रशंसा की। कुछ अन्य लोग उससे सहमत नहीं हुए। महात्मा गांधी ने निजी तौर पर नेहरू जी के सामने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया। बाद में नेहरू जी ने लिखा:

> *यह अर्थ लगाना कि सरकार के स्वरूप को लेकर, समझौते की दूसरी धारा ने विचार विमर्श की संभावना पैदा की, मेरी समझ से ऐसा तर्क था जो जबरन थोप दिया गया था। मैं कायल नहीं हुआ लेकिन उनकी बातों से मुझे थोड़ी सांत्वना मिली। एक दो दिन तक मैं अनिश्चय में पड़ा रहा। नहीं जानता था कि क्या किया जाये। उस समझौते को बचाने का कोई प्रश्न नहीं था, तब......*

वास्तव में 5 मार्च को दोनों पक्षों ने समझौते पर हस्ताक्षर किये। उसे 'गांधी—इरविन समझौता' के नाम से जाना गया।

गांधीजी ने वायसराय के साथ अपनी बातचीत में बहुत से मसले उठाये थे। एक प्रश्न उन राजनैतिक बंदियों के क्षमादान को लेकर था जिन्हें विशेष अध्यादेशों के अंतर्गत हिंसक कार्रवाईयों के लिए दंडित किया गया था। वस्तुतः गांधी जी ने उन अध्यादेशों को वापस लेने की पैरवी की थी। उन्होंने उन लोगों को हर्जाना दिलाने की बात की थी जिनकी जमीनें जब्त कर ली गयी थीं। गांधीजी द्वारा उठाये गये इन सभी प्रश्नों को लेकर इरविन अपनी बात पर अड़े रहे। उन्होंने कुछ क्षेत्रों में भूमि कर कुछ कम करने की रजामंदी जाहिर की लेकिन भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु के मृत्युदंड की सजा खत्म कर देने के बड़े मसले पर उन्होंने गांधीजी के आग्रह को न केवल दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया बल्कि यह भी कहा कि वह उसे स्थगित करने को भी तैयार नहीं है। 23 मार्च, 1931 को तीनों को फांसी पर लटका दिया। अनेकों बहानों की आड़ में सरकार ने दमनकारी कदमों

में भी किसी तरह की ढिलाई नहीं की। गांधीजी ने जो रियायतें चाही थी, उन्हें पाने में सफल नहीं हुए।

कराची कांग्रेस

भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी दिये जाने के 6 दिन बाद 29 मार्च को लाहौर के बाद पहली बार कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कांग्रेस के अधिकारिक इतिहास लेखक पट्टभि सीतारामय्या के अनुसार उस वक्त भगत सिंह का नाम सारे देश में गांधीजी की ही तरह लोकप्रिय हो गया था। वस्तुतः गांधीजी को कराची पहुंचने पर एक विरोधी प्रदर्शन का सामना करना पड़ा। अधिवेशन में क्रांतिकारीयों की वीरता और उनके व्यक्ति—बलिदान की प्रशंसा में एक प्रस्ताव स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया था। यह कांग्रेस की अहिंसक कट्टरपंथिता के विरुद्ध था और गांधीजी ने उसे केवल तब स्वीकार किया जब उसकी मूल शब्दावली में संशोधन किया गया। प्रस्ताव नये रूप में यों था:

> *किसी भी तरह की राजनैतिक हिंसा से अपने को अलग रखने और उसे अमान्य करते हुए कांग्रेस उनकी वीरता और बलिदान के प्रति अपनी प्रशंसा को लिखित ढंग से व्यक्त कर रही है।*

सुभाषचंद्र बोस के समर्थन से युवक स्वयंसेवकों ने उस संशोधन का विरोध किया था लेकिन वे बहुत थोड़े से मतों से पराजित हो गये।

कुल मिलाकर कराची अधिवेशन का महत्वपूर्ण राजनैतिक प्रस्ताव मद्रास और कलकत्ता अधिवेशनों की समझौते की स्थिति का वापिस आ गया। इसने पूर्ण स्वराज्य की मांग की लेकिन गांधी और इरविन के उस समझौते को भी स्वीकार किया जिसने लक्ष्यों पर पुनर्विचार करने का रास्ता खोल दिया था। अस्वाभाविक नहीं है कि जनवरी, 1930 की उत्साह की लहर कुछ हद तक कम होने लगी। उस वक्त की स्थिति में जनता को हिस्सेदारी की संभावनाएं बहुत कम थीं। दूसरे कदम का फैसला नेताओं को ही करना था।

लेकिन एक अर्थ में कराची कांग्रेस ने जनवरी, 1930 के रास्ते पर एक अलग कदम रखा। मौलिक अधिकारों और आर्थिक नीति पर एक प्रस्ताव पास हुआ जो भविष्य के जनतंत्र में कांग्रेस के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमों का रूप प्रस्तुत करता था। इसके स्वरूप का निर्धारण स्पष्ट ढंग से पहले नहीं किया गया था। इसके मुख्य मुद्दे थे:

1. लोकसम्मत मौलिक अधिकारों का आश्वासन,
2. जनता के सभी वर्गों से जातीय और धार्मिक लाचारियों की समाप्ति,
3. विभिन्न क्षेत्रों की राष्ट्रीय भाषाओं का विकास और भाषाई आधार पर भारत में प्रांतों का गठन,

में भी किसी तरह की ढिलाई नहीं की। गांधीजी ने जो रियायतें चाही थी, उन्हें पाने में सफल नहीं हुए।

कराची कांग्रेस

भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी दिये जाने के 6 दिन बाद 29 मार्च को लाहौर के बाद पहली बार कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कांग्रेस के अधिकारिक इतिहास लेखक पट्टभि सीतारामय्या के अनुसार उस वक्त भगत सिंह का नाम सारे देश में गांधीजी की ही तरह लोकप्रिय हो गया था। वस्तुतः गांधीजी को कराची पहुंचने पर एक विरोधी प्रदर्शन का सामना करना पड़ा। अधिवेशन में क्रांतिकारीयों की वीरता और उनके व्यक्ति—बलिदान की प्रशंसा में एक प्रस्ताव स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया था। यह कांग्रेस की अहिंसक कट्टरपंथिता के विरुद्ध था और गांधीजी ने उसे केवल तब स्वीकार किया जब उसकी मूल शब्दावली में संशोधन किया गया। प्रस्ताव नये रूप में यों था:

किसी भी तरह की राजनैतिक हिंसा से अपने को अलग रखने और उसे अमान्य करते हुए कांग्रेस उनकी वीरता और बलिदान के प्रति अपनी प्रशंसा को लिखित ढंग से व्यक्त कर रही है।

सुभाषचंद्र बोस के समर्थन से युवक स्वयंसेवकों ने उस संशोधन का विरोध किया था लेकिन वे बहुत थोड़े से मतों से पराजित हो गये।

कुल मिलाकर कराची अधिवेशन का महत्वपूर्ण राजनैतिक प्रस्ताव मद्रास और कलकत्ता अधिवेशनों की समझौते की स्थिति का वापिस आ गया। इसने पूर्ण स्वराज्य की मांग की लेकिन गांधी और इरविन के उस समझौते को भी स्वीकार किया जिसने लक्ष्यों पर पुनर्विचार करने का रास्ता खोल दिया था। अस्वाभाविक नहीं है कि जनवरी, 1930 की उत्साह की लहर कुछ हद तक कम होने लगी। उस वक्त की स्थिति में जनता को हिस्सेदारी की संभावनाएं बहुत कम थीं। दूसरे कदम का फैसला नेताओं को ही करना था।

लेकिन एक अर्थ में कराची कांग्रेस ने जनवरी, 1930 के रास्ते पर एक अलग कदम रखा। मौलिक अधिकारों और आर्थिक नीति पर एक प्रस्ताव पास हुआ जो भविष्य के जनतंत्र में कांग्रेस के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमों का रूप प्रस्तुत करता था। इसके स्वरूप का निर्धारण स्पष्ट ढंग से पहले नहीं किया गया था। इसके मुख्य मुद्दे थे:

1. लोकसम्मत मौलिक अधिकारों का आश्वासन,
2. जनता के सभी वर्गों से जातीय और धार्मिक लाचारियों की समाप्ति,
3. विभिन्न क्षेत्रों की राष्ट्रीय भाषाओं का विकास और भाषाई आधार पर भारत में प्रांतों का गठन,

4. करों में कमी,
5. बहुत सी देशी रियासतों और पिछड़े क्षेत्रों में प्रचलित बेगार की प्रथा की समाप्ति,
6. नमक कर की समाप्ति,
7. मज़दूरों के विशेषाधिकारों की सुरक्षा। जैसे काम करने की स्वस्थ स्थितियां, न्यूनतम मज़दूरी का निर्धारण, बेरोजगारी का बीमा, आठ घंटे प्रतिदिन का काम और छुट्टियों का वेतन।

यद्यपि कराची काग्रेस ने अर्द्धसामंती भू—स्वमियों की बड़ी जागीरों की समाप्ति की मांग करने में अपने को असमर्थ पाया लेकिन उसने भूमि सुधार संबंधी अपना एक कार्यक्रम तैयार करने का काम शुरू कर दिया। इससे साबित होता है कि सन् 1930 की कार्रवाईयों में वामोन्मुखी क्रांतिकारी प्रवृत्तियों की वास्तविक असफलता के बावजूद, कांग्रेसी नेताओं को, किस तरह पिछले चार वर्षों के जन विद्रोह के परिणामस्वरूप परिवर्तनवादी जनतंत्र के कम से कम कुछ उसूलों को स्वीकार करना पड़ा। स्वतंत्रता संग्राम के शेष वर्षों में राष्ट्रवादी नेताओं को इन्हीं जनतांत्रिक सिद्धांतों के झंडे ने नीचे चलना पड़ा। इस तरह, अगर एक तरफ कराची अधिवेशन समझाने—बुझाने के तर्क के जरिये भीतरी और बाहरी मतभेदों को समाप्त कर देने में गांधीवादी दर्शन की राजनैतिक सफलता का द्योतन करता है तो दूसरी ओर वहीं से कांग्रेस के कार्यक्रम में परिवर्तनकारी, समाजवादी प्रवृत्तियों ढंग से आने का सूत्रपात होता है।

दूसरा गोलमेज सम्मेलन और सांप्रदायिक प्रश्न

कांग्रेस अधिवेशन के तत्काल बाद ही कराची में किसान मज़दूर पार्टी और अखिल भारतीय युवा लीग के भी सम्मेलन हुए। किसान पार्टी ने मज़दूरों और किसानों के प्रश्न पर एक ऐसा कार्यक्रम स्वीकार किया जो कांग्रेस के 'मौलिक अधिकारों और आर्थिक नीति' के प्रस्ताव से एक कदम आगे था। युवा लीग ने पूर्ण स्वराज के संघर्ष को जारी रखने की मांग की। इसे गांधी—इरविन समझौते और दूसरे गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के भाग लेने के निर्णय की भी निंदा की।

दूसरी तरफ सांप्रदायिकता की समस्या तीव्रता से बढ़ रही थी। 24 और 25 मार्च, 1931 को कानपुर में हिंसक सांप्रदायिक दंगे हो चुके थे। जिनमें दोनों ओर के कुछ व्यक्ति मारे गये थे। यह सांप्रदायिक दंगों के दोबारा फैलने का परिचायक था। इसके बाद ही जिन्ना तथा प्रतिक्रियावादी मुसलमानों के गुट ने कांग्रेस के राजनैतिक कार्यक्रमों से अपने को अलग कर लेने की घोषणा की।

सन् 1931 में अप्रैल से लेकर जून तक, कांग्रेस गोलमेज सम्मेलन में अपने उस दृष्टिकोण पर विचार विमर्श करती रही जो उसने प्रस्तुत किया था। सरकार एक बड़े प्रतिनिधिमंडल को स्वीकार करने के लिए तैयार थी लेकिन इसके बावजूद कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने के लिए सिर्फ गांधी जी

को चुना गया। यदि गांधी जी के साथ डॉ॰ अंसारी जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान भी लंदन गये होते तो मुमकिन है कि ब्रितानी जनमत को यह विश्वास दिलाया जा सकता था कि कांग्रेस निश्चय ही प्रगतिशील मुसलमानों के मत का प्रतिनिधित्व करती है। इसके बदले कांग्रेस ने यह उम्मीद की थी कि सम्मेलन में डॉ॰ अंसारी का मनोनयन उनके अपने ही अधिकार के नाते हो जायेगा। सुभाषचंद्र बोस ने भी बताया कि गांधी जी ने यह कहना शुरू कर दिया था, "अगर मुसलमानों ने नये संविधान में प्रतिनिधित्व और निर्वाचन मंडल के प्रश्न पर संयुक्त मांग की तो वह उसे स्वीकार कर लेंगें।" बाद में गांधी जी का स्पष्ट ढंग से यह कहना कि पृथक् निर्वाचन मंडल की मांग स्वीकार नहीं करेंगे, सुभाषचंद्र बोस की दृढ़ता और राष्ट्रवादी मुसलमानों के निम्नलिखित वक्तव्य का ही परिणाम था:

> *यदि किन्हीं कारणों से महात्मा ने हिंदुओं और मुसलमानों के लिए एक ही निर्वाचन मंडल की माँग त्याग कर प्रतिक्रियावादियों की मांग स्वीकार की तो वे (राष्ट्रवादी मुसलमान) महात्मा और प्रतिक्रियावादी मुसलमानों का विरोध करेंगे क्योंकि वे इस तथ्य के कायल थे कि पृथक् निर्वाचन मंडल न केवल सारे देश के लिए बुरे थे बल्कि विभिन्न संप्रदायों के लिए भी।*

अप्रैल में लार्ड इरविन की जगह पर लार्ड विलिंग्डन वायसराय होकर आये। नये वायसराय उदारवादी रुख अपनाने के लिए मूलतया कम तैयार थे। उन्होंने गांधीजी की यह शिकायत नहीं मानी कि प्रांतीय सरकारें राजनैतिक अपराधियों को दंडित करने के सिलसिले में गांधी—इरविन समझौते की शर्तों की अवहेलना कर रही हैं। वायसराय ने मतभेदों को सुलझाने के लिए मध्यस्थता करने वाले एक मंडल की नियुक्ति के गांधीजी के आग्रह को भी ठुकरा दिया। उनके अधिकारियों का विश्वास था कि ऐसा करना कांग्रेस की सत्ता को समानांतर धरातल पर स्वीकार करना होगा। इस बीच में पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में खुदाई खिदमतगारों और उत्तर प्रदेश में 'कर न चुकाने के' आंदोलनकारियों को सताने का सिलसिला चलता रहा। गांधीजी ने अगस्त में लंदन जाने से इंकार करते हुए मसले को उभारने की कोशिश की लेकिन विलिंग्डन अपनी जिद्द पर अड़े रहे। उन्होंने डॉ॰ अंसारी को गोलमेज सम्मेलन के लिए मनोनीत न करने के अपने फैसले को भी इस आधार पर बरकरार रखा गया कि दूसरे मुसलमान प्रतिनिधि उन्हें स्वतंत्र प्रतिनिधि के रूप में भेजने का इसलिए विरोध कर रहे थे कि वह कांग्रेस के सदस्य थे। असलियत यह थी कि ब्रितानी सरकार फूट डालो और राज्य करो की अपनी नीति के अनुसार साप्रदायिकतावादी हिंदुओं और मुसलमानों के हाथ मजबूत करने के लिए कृतसंकल्प थी। एक ओर डॉ॰ अंसारी जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान के मनोनयन को अस्वीकृत किया गया और दूसरी ओर हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान सांप्रदायिकतावादियों को उस सीमा तक प्रतिनिधित्व दिया गया जो देश में उसके राजनैतिक प्रभाव के अनुपात में बहुत बड़ा था। अंततः गांधी जी शिमला में वल्लभभाई पटेल, प्रभाशंकर पाथानी और जवाहर लाल नेहरू के साथ वायसराय से मिलने के बाद तैयार हो गये। उन्हें सरकार से सूरत के कुछ गांवों में जबरदस्ती

राजस्व वसूल किये जाने के मामलों की जांच कराने का वायदा मिल गया, लेकिन 'कांग्रेस द्वारा अब उठाये गये अन्य मामलों' के बारे में उन्हें कोई आश्वासन नहीं मिला। महात्मा ने यह जरूर कहा कि यदि जांच असफल हुई तो कांग्रेस बचाव की दृष्टि से सीधी कार्यवाई करने को स्वतंत्र होगी। लेकिन 15 अगस्त,1931 को जब उन्होंने लंदन के लिए प्रस्थान किया तो निश्चित रूप से मान लिया गया कि वह उनकी दुर्बलता का प्रतीक था।

ये सारी चीजें सितंबर से लेकर दिसंबर, 1931 तक चलने वाले दूसरे गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस की असफलता का पूर्व संकेत थीं। अन्य प्रतिनिधि पहले ही पहुंच चुके थे लेकिन गांधी जी सम्मेलन शुरू होने के केवल एक दिन पहले पहुंचे। वहां के मज़दूरों ने उनका शानदार स्वागत किया। वह लंदन के पूर्वी सीमांत पर ठहरे थे और वहां लंकाशायर का दौरा किया। यद्यपि कांग्रेस के विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का उस क्षेत्र पर बहुत बुरा असर पड़ा था, लेकिन वहां के मज़दूरों ने भारतीय जनता के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन किया। लेकिन ब्रितानी मंत्रियों और बहुत से सांप्रदायिकतावादी नेताओं ने राष्ट्रवादी नेताओं को उलझाने का एक रास्ता पहले से ही ढूंढ निकाला था। गांधी जी संविधान संबंधी सुधार के मसले को अभी भी प्राथमिकता दी लेकिन उन लोगों ने इसके पहले सांप्रदायिक एकता पर बातचीत शुरू करने का बार—बार आग्रह किया। अल्पसंख्यक समिति में इस मुद्दे पर गतिरोध पैदा हो गया। इस समिति की बैठक की अध्यक्षता प्रधानमंत्री ने की थी। उन्होंने कहा कि सभी सदस्य अपने हस्ताक्षर के सात सांप्रदायिक प्रश्न के हल के लिए एक संयुक्त प्रार्थना पत्र उन्हें इस आश्वासन के साथ दें कि वे उनके निर्णय को स्वीकार करेंगे। सभी सदस्य इस पर राजी नहीं हुए। हो भी नहीं सकते थे। अंग्रेज जानते थे कि विभिन्न सांप्रदायिक नेता एक दूसरे को काटने की कोशिश करेंगे। गांधीजी ने समिति में बहुत तर्कपूर्ण ढंग से अपना पक्ष प्रस्तुत किया कि यदि हमारे पारम्परिक भेद विदेशी अधिपत्य के कारण उत्पन्न नहीं हैं और यदि उन्होंने जिद्द का रूप धारण कर लिया है तो इसका समाधान स्वराज संविधान का आधार नहीं हो सकता अपितु स्वयं स्वराज का संविधान तैयार करना ही हो सकता है। मुझे इस विषय में जरा भी संदेह नहीं है कि सांप्रदायिक भेदभाव का हिमशैल स्वतंत्रता के सूर्य की गर्मी पाते ही पिघल जायेगा।

लेकिन आगा खां जैसे मुसलमान सांप्रदायिकतावादियों ने सम्मेलन में सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी हितों को ब्रितानी साम्राज्यवाद के संरक्षण में सुरक्षित किये रखने की जिद्द पकड़ ली। हिन्दू और सिक्ख सांप्रदायिकतावादी भी साम्राज्यवाद के हाथों की कठपुतली बनते दिखाई दिये। उन सभी ने अपने ढंग से गांधी जी द्वारा सम्मेलन में एक संगठित मोर्चा प्रस्तुत करने के प्रयत्न को असफल करने में मह त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अतत: दिसंबर, 1931 में मैकडोनाल्ड ने सन् 1930 के समझौते की शर्तों के अनुसार मसले को आगे बढ़ाने का प्रस्ताव किया। उन्होंने विलिंग्डन की नीति का अनुमोदन किया और भारत सरकार

के लिए प्रस्ताव विधेयक के मुज्य मुद्दों की एक प्रारम्भिक जानकारी दी। प्रस्तावित विधेयक में एक शक्ति सम्पन्न संघीय केन्द्र और स्वाय त्तता की व्यवस्था थी। प्रांतों को स्वाय त्तता के सीमित अधिकार दिये गये थे। वित्त, विदेश, व्यापार और सुरक्षा (इसमें युद्ध का निर्णय करने का अधिकार भी शामिल था) संघीय क्षेत्र के विषय थे, जिन पर वेस्ट—मिनिस्टर की संसद और वायसराय का सर्वाधिकार था। निराशा में गांधी जी भारत लौट आये।

नये सिरे से सरकारी दमन

विलिंग्डन की सरकार ने सन् 1930 में उठाये गये इरविन के कदमों की तुलना में सारे राष्ट्रीय आंदोलन का दमन करने के लिए अधिक सख्त कदम उठाने का फैसला किया। गांधी जी के लंदन से लौटने के पांच दिन पहले ही, जब उ त्तर प्रदेश के कांग्रेसियों ने यह कहकर कि सरकार से बातचीत चल रही है, किसानों से लगान अदा न करने का आग्रह किया तो उनके नेताओं को बड़ी संख्या में गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार होने वालों में नेहरू और पुरुषो त्तम दास टंडन भी थे। पश्चिमो त्तर सीमा प्रांत मे खान अब्दुल गफ्फार खां, उनके बड़े भाई डॉ॰ खां साहब तथा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं को जेल में डाल दिया गया। बंगाल में चिटगांव शहर को तीन दिनों तक ग़ैरसरकारी यूरोपियों की दया पर छोड़ दिया गया। उन्होंने गुंडा—गिरोहों को साथ लेकर राष्ट्रवादियों के मकानों को लूटा और पुलिस ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। यहां तक कि सन् 1931 में खड़गपुर के नजदीक के हिज़ली के कुख्यात जेल के कैदियों को वहां के जेल अधिकारियों ने पीटा और बाद में गोली भी चलाई जिससे दो व्यक्ति मारे गये।

व्यक्ति अवज्ञा आंदोलन

लौटने के बाद जब गांधीजी ने विलिंग्डन से विरोध किया तो उन्होंने उनके साथ हठधर्मिता का रूख अपनाया। लेकिन कांग्रेस अभी भी सरकार को सहयोग देने को तैयार थी। बशर्ते कि सरकार अध्यादेशों को वापस लेकर उसे पूर्ण स्वराज का आंदोलन जारी रखने को अनुमति दे दे। यह एक ऐसा रुख था जो लाहौर कांग्रेस की भावना से बहुत भिन्न था। हालांकि उसने अभी भी नागरिक अवज्ञा आंदोलन को पुनः शुरू करने की धमकी दी। सरकार ने धमकी की उपेक्षा कर दी। 4 जनवरी, 1932 को गांधीजी और कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई पटेल के साथ कांग्रेसी नेताओं के एक नये समूह को गिरफ्तार कर लिया गया। अब जेल में राजनैतिक कैदियों को मारने और उनके साथ आम अपराधी जैसा व्यवहार करने की प्रवृति पहले से ज्यादा आम हो गयी। सरकार को आंतकित करने के जावाब में सन् 1932 में क्रांतिकारीयों को प्रताड़ित करने का काम बहुत तेजी से बढ़ गया। गांधीजी ने इच्छा व्यक्त की कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन कुछ निश्चित किस्म के कामों के द्वारा सामूहिक ढंग के बदले व्यक्तिगत ढंग से चलाया जाये। उनका तर्क यह था कि अहिंसावादी

लोगों में अकेले मुकाबला करने का साहस होना चाहिए। लेकिन उसका असली कारण शायद यह था कि आशंका से जन्मी निराशा हिंसक परिस्थितियां पैदा कर सकती है। जब 24 अप्रैल को मदनमोहन मालवीय की कार्यकारी अध्यक्षता में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में करने का निश्चय हुआ तो अधिकतर नेता अध्यादेशों के अंतर्गत गिरफ्तार कर लिये गये। अन्य लोगों ने चांदनी चौक (दिल्ली) के घंटाघर के पास अहमदाबाद के एक प्रतिनिधि सेठ रणछोड़ दास की स्थानापन्न अध्यक्षता में एक बैठक की। उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन 1 मई को वे सभी रिहा कर दिये गये।

सांप्रदायिक निर्णय

हरिजनों, अनुसूचित जातियों और आदिवासियों का समर्थन प्राप्त करना गांधी की चिंता का पुराना विषय था। जन आंदोलनों से दूर इस विषय को पुनर्जीवित करने की एक नयी प्रवृत्ति इस बीच में पैदा हो गई यह ब्रिटेन की फूट डालो और राज करो की इस नीति का जवाब था जिसकी अभिव्यक्ति रैम्जे मैकडोनाल्ड द्वारा घोषित सन् 1932 के सरकार के सांप्रदायिक निर्णय में हुई थी। निर्णय में हिन्दुओं, हरिजनों और मुसलमानों के लिए संघीय विधान—परिषद में पृथक् निर्वाचन मंडल की व्यवस्था थी। हिन्दुओं और हरिजनों को दो पृथक् राजनैतिक अस्तित्व माना गया था। गांधीजी ने इसे एक चुनौती माना। उन्हें एम. सी. राजा जैसे बहुत से हरिजनों ने समर्थन दिया। उन्होंने हरिजनों के लिए जगहों के आरक्षण के साथ एक ही निर्वाचन मंडल की इच्छा जाहिर की। लेकिन उनमें से कुछ ने डॉ॰ आंबेडकर के नेतृत्व में उस प्रणाली को अस्वीकार कर दिया। जिसमें अछूतों (हरिजनों) को हिन्दू तो कहा जाता था लेकिन छुआछूत खत्म नहीं हुआ ता। विलिंग्डन ने इस अवसर का लाभ उठाया और जिद्द की कि सांप्रदायिक निर्णय स्वीकार किया ही जाना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि गांधीजी (जो उन दिनों पूना के निकट यरवदा जेल में नजरबंद थे) ने सितंबर में आमरण अनशन शुरू कर दिया। उन्होंने निर्णय का विरोध किया लेकिन साथ ही अछूतों के लिए हिन्दुओं के निर्वाचन मंडल में इतनी अधिक जगहों के आरक्षण की मांग की जितनी कि व्यवस्था स्वयं निर्णय में भी नहीं थी। आंबेडकर ने गांधी जी की बात मान ली। सरकार ने पूना समझौते को सांप्रदायिक निर्णय करते एक संशोधन के रूप में स्वीकार किया।

इसके कारण 'अखिल भारतीय अस्पृश्यता लीग' और 'अस्पृश्यता सेवक समिति' जैसे संगठनों के माध्यम से कांग्रेस के प्रभाव में वृद्धि हुई। कांग्रेस के प्रचार ने मध्य भारत, दक्षिण बिहार और उड़ीसा के पहाड़ी क्षेत्रों की पिछड़ी हुई, अनुसूचित आदिम जातियों में राष्ट्रवादिता और जनतंत्र की विचारधारा का प्रसार किया। यहां के लोग भारतीय राष्ट्रवादिता से अब तक अपेक्षाकृत अछूते थे। इन क्षेत्रों में कांग्रेस ने सहानुभू ती रखने वाले भूतपूर्व ब्रितानी धर्म प्रचारक बेरियर एल्विन और शमराव हिवेल जैसे लोग निष्ठापूर्वक काम कर रहे थे। इस आंदोलन का एक मुख्य अंग सभी मंदिरों

का हरिजनों के लिए खोल दिया जाना था। 8 जनवरी, 1933 मंदिर—प्रवेश दिवस के रूप में मनाया गया। देश के तीर्थाटन के बहुत से केन्द्रों में (जहां विभिन्न जाति, वंश और भाषा के हिंदुओं का जाना लगा रहता था), निचली जातियों के उत्थान की राष्ट्रवादिता से जोड़ दिया गया जिसकी वजह से उनकी अपील को बल मिला।

इस बीच नागरिक अवज्ञा आंदोलन या व्यक्तिगत अवज्ञा आंदोलन का जो दूसरा दौर शुरू हुआ। वह सन् 1930 के आंदोलन की तुलना में जनता पर प्रभाव डालने की दृष्टि से दुर्बल था। लेकिन किसान वर्ग पर कांग्रेस का प्रभाव बदस्तूर बना रहा। उत्तर प्रदेश और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में कर और लगान न चुकाने का आंदोलन जारी रहा।

सन् 1932—33 का वर्ष शायद ब्रितानी शासन का अंतिम वर्ष था जिसमें कट्टरपंथी आंदोलन की लपटें ऊंचाई तक उठीं और फिर जोर जुल्म से पूरी तरह दबा दी गयीं। ऐसा विशेषकर बंगाल में हुआ। वह कट्टरपंथी हिंसा, अहिंसक नागरिक अवज्ञा और नागरिक प्रतिरोध की हत्या हुई थी। जिनकी हत्याएँ हुई थीं, उनमें एक दो भारतीय भी थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में जिस वक्त बंगाल के नये गर्वनर सर स्टैनली जैकसन अध्यक्षता कर रहे थे, बीना दास नाम की डायोसेसन वीमेन्स कालेज की एक प्रतिभाशाली छात्रा ने लोगों की उपस्थिति में ही गोली चलाई। गोली एंडरसन की जेब में पड़ी नोटबुक पर लगी और उसकी जिंदगी बच गयी। बीना दास को आजीवन कारावास की सजा हुई। स्वतंत्रता मिलने के वक्त तक उनकी रिहाई नहीं हुई थी।

जून, 1932 में सेना की एक टुकड़ी ने चिटगांव के पास उस गांव को घेर लिया जहां सूर्यसेन अपने चार गुरिल्लों के साथ एक मकान में छिपे हुए थे। सीढ़ियों से गोलियों की बौछार आई इससे सैनिकों का नेता कैप्टन कैमरान मारा गया। उस घमासान मुठभेड़ में सूर्यसेन अपने दो सहयोगियों प्रीतिलता वादेदार और कल्पना दज़ के साथ बच निकलने में सफल हो गये। अंततः सन् 1933 के शुरू के दिनों में गैराला गांव में एक ग्रामीण के विश्वासघात के कारण सूर्यसेन गुरखा सैनिकों की बड़ी टुकड़ी द्वारा पकड़ लिए गये। उन्हें ढाका में फांसी दी गयी। आज भी बंगलादेश की नेता और जनता उस राष्ट्रीय नायक की स्मृति में श्रद्धा से मस्तक झुकाती है। इस आंदोलन के खत्म हो जाने का कारण यह था कि क्रांतिकारी अपनी बाहरी जड़ों से कटकर अलग थलग हो गये थे। वे मुख्यतया शहर के स्कूल—कालेजों से आये थे। वे उज़र प्रदेश या अन्य क्षेत्रों शुरू किये गये एक परिर्वतनवादी भूमि सूधार जैसे कार्यक्रम की किसानों की आवश्यकता का अनुमान लगाने में असफल रहे।

सन् 1933 का स्वतंत्रता दिवस बड़े जोश के साथ मनाया गया। हुगली जिले(बंगाल) में बदनगंज में एक कांग्रेसी जुलूस को तितर बितर करने के लिए पुलिस ने गोली चलाई। फरवरी में बोरसद (गुजरात) में एक कांग्रेसी जुलूस का नेतृत्व करती हुई कस्तूरबा गांधी को गिरफ्तार किया गया और उन्हें 6 महीने की जेल की सजा दी गयी। मार्च 1933 में पुनः मदनमोहन मालवीय को

अध्यक्ष पद पर मनोनीत करके कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। हजार प्रतिनिधियों को उनके अधिवेशन में शामिल होने के पहले ही गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे हजार प्रतिनिधियों पर (जिन्होंने अधिवेशन में हिस्सा लिया) पुलिस ने लाठी चलाई। एक तरफ पुलिस अधिवेशन को भंग करने की कोशिश कर रही थी और दूसरी तरफ भीड़ के बीच के प्रतिनिधि जे. एम. सेनगुप्ता की स्थानापन्न अध्यक्षता में बैठक करके पूर्ण स्वराज के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तरीके के रूप में नागरिक अवज्ञा को चलाने और विदेशी कपड़ों और वस्तुओं के बहिष्कार के अपने पुराने निर्णय को दोहरा रहे थे।

इस दौर में कई हजार औरतों और बच्चों समेत लगभग 1 लाख 20 हजार लोगों को गिरफ्तार करके जेल की सजा दी गयी थी। इससे साबित होता है कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन चलाते रहने की जनता की इच्छा मंद नहीं पड़ी थी। लेकिन गांधीजी ने मात्र हरिजन समस्या पर अपना ध्यान केंद्रित किया। मई, 1933 में उन्होंने हरिजन समस्या पर ध्यान केंद्रित करने और स्वयं तथा अपने सहयोगियों का मन शुद्ध करने के लिए 21 दिन के उपवास की घोषणा की। सरकार ने उन्हें तत्काल रिहा कर दिया। उसके बाद उन्होंने वक्तव्य जारी किया कि कांग्रेस कुछ समय के लिए नागरिक अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दे। एक साल बाद अप्रैल, 1934 में आंदोलन को अंतिम रूप से तिलांजलि दे दी गयी।

इसी दौरान नवंबर, 1932 में ब्रितानी सरकार ने लंदन में तीसरे गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया। उसमें कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नहीं था। कांग्रेस ने इस तर्क पर आमंत्रण स्वीकार न करने का फैसला कर लिया था कि सरकार ने जो दृष्टिकोण अपना लिया है उसके कारण सम्मेलन में शामिल होने से किसी सार्थक उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। बहराल, सम्मेलन में जो विचार विमर्श हुआ उसके परिणामस्वरूप कुछ अतिरिक्त सुधारों के साथ सरकार ने सन् 1935 का भारतीय विधेयक पास करने का फैसला किया। नये विधेयक में केन्द्र में संघीय शासन और प्रांतों को पहले से अधिक स्वायत्तता देने का प्रस्ताव था। पहली बार देशी रियासतें भी विचार विमर्श का सीधा विषय बनीं क्योंकि संघीय शासन में ब्रितानी भारत के प्रांतों के साथ रियासतों को भी शामिल किया जाना था। ऐसा लगा कि इसकी वजह से भारत को एक देश और यहां के लोगों को एक राष्ट्र मानने के सिद्धांत की संयोगवश पुष्टि हो गयी। लेकिन अंग्रेज़ों का वास्तविक इरादा राष्ट्रवादी नेताओं के साम्राज्यवादी विरोधी सिद्धांत और कार्यक्रम के पलड़े को राजाओं का इस्तेमाल करके संतुलित करना था। इसीलिए रियासतों को केन्द्र के द्विसदनी संघीय विधान—परिषद में उनके अनुपात से ज्यादा प्रतिनिधित्व दिया गया। केवल इतना ही नहीं, रियासतों के प्रतिनिधियों का चुनाव जनता के मत द्वारा नहीं होना था। वे शासकों द्वारा नियुक्त किये जाने वाले थे। देश के शेष भाग में भी बालिग मताधिकार भयंकर रूप से सीमित था। ब्रितानी भारत में मत देने का अधिकार 14 प्रतिशत से अधिक लोगों को नहीं था। लेकिन इतनी सुरक्षा के साथ गठित विधान—परिषद को भी पूरे अधिकार

नहीं मिलने वाले थे। सुरक्षा और विदेशी संबंध पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था। उसकी देखरेख में आने वाले दूसरे विषयों में भी गवर्नर जनरल ने विशेष नियंत्रण का अधिकार अपने पास रखा था। गवर्नर जनरल और गर्वनरों की नियुक्ति ब्रितानी सरकार द्वारा होती रहती थी और वे उसी के प्रति सीधे जिम्मेदार थे।

प्रांतों में स्वायत्तता के जो अधिकार दिये गये थे, वे भी गवर्नर में निहित विशेष अधिकारियों द्वारा रद्द किये जा सकते थे। गर्वनर को न केवल चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्तावित किसी कानूनी कदम को रद्द कर देने का विशेषाधिकार था बल्कि उन्हें अपनी मर्जी से कानून लागू करने और अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार था। नागरिक सेवा और पुलिस पर नियंत्रण रखने के अधिकार भी गवर्नर के पास ही थे।

सन् 1935 के भारतीय विधेयक से बहुत कम लोग संतुष्ट हुए। काग्रेस के लिए वह 'पूर्णतया निराशाजनक' था। दूसरों ने उसे विभिन्न मात्रा में 'अपर्याप्त' पाया। ब्रितानी सरकार ने भारत की जनता पर शासन करने वाले राजनैतिक और आर्थिक अधिकार छोड़ नहीं दिये थे। केवल सरकार के ढांचे में हल्का सा परिवर्तन हुआ था। जनमत से निर्वाचित मंत्रियों को ब्रितानी प्रशासन में शामिल कर लिया था लेकिन विदेशी हुकूमत को चलते रहना था।

विधेयक के प्रांतों से संबद्ध भाग को तत्काल लागू किया जाना था। संघीय भाग पर बाद में अमल होना था। विधेयक के प्रावधानों से पूरी तरह सहमत होने पर उसकी अमलदारी में सहयोग देने की जगह पर कांग्रेस के चुनाव लड़ने का निर्णय मूलतया ब्रितानी सरकार पर यह साबित करने के लिए लिया कि दल का देश की जनता को कितना बड़ा समर्थन प्राप्त है। इस उद्देश्य में पूरी सफलता मिली। अधिकतर प्रांतों में वह भारी बहुमत से जीती। इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता था कि भारतीय जनता के विशाल बहुमत ने उसे समर्थन दिया। बहुत से लोगों ने तर्क दिया कि चुनाव जीतने के बाद पदों को अस्वीकृत कर देने का कोई औचित्य नहीं था। नेहरू तथा अन्य वामपंथी तत्व पद स्वीकार करने के विरुद्ध थे। उन्होंने कहा कि ऐसा करने से स्वतंत्रता संघर्ष में उलझन पैदा होगी। लेकिन बहुमत पद स्वीकार करने के पक्ष में था। कांग्रेस ने जुलाई, 1937 में 11 प्रांतों में से 7 में अपने मंत्रिमंडल बनाये। बाद में उसने दो और प्रांतों में भी (अन्य दलों के सहयोग से) संयुक्त मंत्रिमंडल गठित किया। गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल केवल पंजाब और बंगाल में बने।

प्रांतीय सरकारों के अधिकार सीमित होने के कारण कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने प्रशासन के मूल चरित्र में परिवर्तन लाने का काम नहीं किया। उन्होंने किसी आमूल परिवर्तन की भी शुरूआत नहीं की। कारण, कांग्रेस का स्वयं का सामाजिक सुधार इसके संगठन में मज़दूरों—किसानों से लेकर पूंजीपतियों और जमींदारों का होना, इसके अधिक प्रभावशाली नेताओं का रूढ़िवादी चरित्र लेकिन अपनी अधिकृत छोटी सीमाओं में उन्होंने कुछ दूर तक जनता की हालत सुधारने की निश्चय ही

कोशिश की। उन्होंने शासन प्रबंध को एक नये दृष्टिकोण का सूत्रपात किया और सेवा तथा ईमानदारी के प्रशंसनीय मानक स्थापित किये। प्रारंभिक, तकनीकी तथा उच्चतर शिक्षा, और जन स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार लाने की ओर पहले से अधिक ध्यान दिया गया। किसानों की मदद के लिए काश्तकारी और कर्ज से राहत देने वाले नये कानून पास किये गये हालांकि इस तरह का विधेयक अक्सर भू—स्वामियों और जमींदारों को सहमति से पारित होने के कारण 'समझौता' होता था। मज़दूर संघों ने काम करने की बेहतर हालत और अधिक मज़दूरी के लिए बातचीत चलाने में अपने को अधिक स्वतंत्र महसूस किया, हालांकि कुछ प्रांतों में उन्हें तीखा संघर्ष करने के लिए विवश होना पड़ा। नागरिक स्वतंत्रता पर लगे नियंत्रण में ढील दी गयी, प्रेस की स्वतंत्रता में वृद्धि हुई मगर इसके बावजूद पुलिस और प्रशासन के अधिकारियों का भय आमतौर पर जारी रहा। उसके प्रति लोगों की उदासीनता उसी तरह बनी रही।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण लाभ मनोवैज्ञानिक था। जनता का अहसास बदल गया। प्रशासन के पदों पर जेल के परिचित व्यक्ति को देखना जीत के स्वाद की तरह था। हवा में आशावादिता और आत्मविश्वास की एक महक थी। यही वह बिंदु था, जब स्वतंत्रता के प्राथमिक संदेशों को जनता ने अनुभव किया।